वैदिक ग्रन्थ अङ्क ४ ।

ओ३म् ॥

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ १ ॥

अथर्व० का० १९ सू० ६२ म० १ ॥

प्रिय मोहि करौ देव, तथा राज समाज में ।
प्रिय सारे दृष्टि वाले, औ शूद्र और आर्य में ॥

अथर्ववेदभाष्यम् ।

प्रथमं काण्डम् ।

आर्यभाषायामनुवाद-भावार्थादि सहितं
संस्कृते व्याकरण-निरुक्तादि प्रमाण समन्वितं च ।

श्रीमद्राजाधिराज प्रथितमहागुणमहिम धीरवीर चिरप्रतापि श्री
सयाजीरावगायकवाडाधिष्ठित बड़ोदेपुरीगत श्रावणमास-
दक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु
लब्धदक्षिणेन

श्री पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदिना

निर्मितम् प्रकाशितञ्च ।

Make me beloved among the Gods,
beloved among the Princes, make
Me dear to everyone who sees, to
Sūdra and to Āryan man.

Griffith's Trans. Atharva 19 : 62 : 1

अयं ग्रन्थः पण्डित काशीनाथ वाजपेयिप्रबन्धेन
प्रयागनगरे ओंकार यन्त्रालये मुद्रितः ।

प्रथमावृत्तौ, १००० पुस्तकानि । संवत् १९६९ वि० । सन् १९१२ ई० । मूल्यम् १)

पता-पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी, ५२ लूकरगंज, प्रयाग (Allahabap) ॥

शुभ समाचार ॥

निःसन्देह अब वह समय है कि सब स्त्री पुरुष घर घर में वेदों का अर्थ जा और धर्मज्ञ होकर पुरुषार्थी बनें। भारतीय और अन्य देशीय विद्वान भी वेद का अर्थ खोजने और प्रकाशित करने में बड़ा परिश्रम उठा रहे हैं। हमारा विचार है कि वेदों का यथाशक्ति सरल, स्पष्ट, प्रामाणिक, और अल्प मूल्य भाष्य प्रस्तुत हो, जिस से सब लोग स्वाध्याय [वेदों के अर्थ समझने और विचारने] में लाभ उठावें। परमेश्वर के अनुग्रह से यह मनोरथ सिद्ध होने लगा है, अर्थात् निम्न लिखित वैदिक ग्रन्थ उपस्थित हैं, और होते जाते हैं।

अथर्ववेद भाष्य।

१—जिस भाष्य की इतने दिनों से प्रतीक्षा होरही थी, जिस चौथे ब्रह्म वेद के स्वाध्याय करने के लिये आप को बड़ी लालसा लगी हुयी थी, और जिस के लिये बहुत से महाशयों के नामों से ग्राहक सूची पूरित है, उस वेद का प्रथम काण्ड अब सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर की परम कृपा से सरल भाषा में सान्वय पदार्थ, भावार्थ, टिप्पणी, अनुरूप मन्त्र, श्लोक आदि, और संस्कृत व्याकरण, निरुक्त आदि सहित आप के सामने विद्यमान है। इस के साथ अथर्ववेद भूमिका भी है जिस में सायण भाष्य और अथर्ववेद विस्तार आदि उपयोगी विषयों का वर्णन है। बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ २०२ मूल्य १।)

२—अथर्ववेद भाष्य, काण्ड २—इसी प्रकार बहुत शीघ्र छपकर प्रकाशित होगा। मूल्य प्रथम काण्ड के लग भग होगा।

३—अथर्ववेद भाष्य सम्पूर्ण—अथर्ववेद में २० काण्ड हैं, कोई छोटा है कोई बड़ा। भाष्य पूरे एक एक काण्ड का छपता है जिस से उस काण्ड का पूरा विषय जान पड़े। प्रत्येक काण्ड का मूल्य उसके विस्तार के अनुसार होगा। जो महाशय सनातन वेदविद्या के प्रेमी अपने नाम पूरे भाष्य के लिये ग्रन्थ छपने से पूर्व ग्राहकसूची में लिखावेंगे, उनको नियत मूल्य में से २०) सैकड़ा छूट देकर पुस्तक छपने पर वी० पी० द्वारा भेजी जाया करेगी।

क्षेमकरणदास त्रिवेदी।

५२ लूकरगंज, प्रयाग (ALLAHABAD.)

वैदिक ग्रन्थ अङ्क ४।

ओ३म् ॥

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ १ ॥

अथर्व० का० १९ सू० ६२ म० १॥

प्रिय मोहि करौ देव, तथा राज समाज में।
प्रिय सारे दृष्टि वाले, औ शूद्र और आर्य में॥

अथर्ववेदभाष्यम्।

प्रथमं काण्डम्।

आर्य्यभाषायामनुवाद-भावार्थादि सहितं
संस्कृते व्याकरण-निरुक्तादि प्रमाण समन्वितं च।

श्रीमद्राजाधिराज प्रथितमहागुणमहिम धीरवीर चिरप्रतापि श्री
सयाजीरावगायकवाडाधिष्ठित वडोदेपुरीगत श्रावणमास-
दक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु
लब्धदक्षिणेन
श्री पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदिना
निर्मितम् प्रकाशितञ्च।

Make me beloved among the Gods,
beloved among the Princes, make
Me dear to everyone who sees, to
Sūdra and to Āryan man.

Griffith's Trans. Atharva 19 : 62 : 1

अयं ग्रन्थः पण्डित काशीनाथ वाजपेयिप्रबन्धेन
प्रयागनगरे ओंकार यन्त्रालये मुद्रितः।

प्रथमावृत्तौ, १,००० पुस्तकानि। संवत् १९६९ वि०। सन् १९१२ ई०। मूल्यम् १)

पता-पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी, ५२ लूकरगंज, प्रयाग (Allahabad)॥

विषय सूची ।

सङ्केत सूची ।

सङ्केत	सङ्केत विषय
अ०, अथर्व०	= अथर्ववेद, काण्ड, सूक्त, मन्त्र ।
अव्य०	= अव्यय ।
आ० प०	= आत्मने पदी ।
उ०	= उणादिकोष, पाद, सूत्र (स्वामी दयानन्द सरस्वती संशोधित) ।
ऋ०	= ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र ।
क्रि०	= क्रिया ।
त्रि०	= त्रिलिङ्ग (विशेषण) ।
न०	= नपुंसकलिङ्ग ।
नि०, निरु०	= निरुक्त, अध्याय, खण्ड, (यास्कमुनि कृत) ।
निघ०	= निघण्टु, अध्याय, खण्ड, (यास्कमुनि कृत) ।
प० प०	= परस्मैपदी ।
पा०	= पाणिनीय व्याकरण-अष्टाध्यायी, अध्याय, पाद, सूत्र ।
पु०	= पुंलिङ्ग ।
पृषो०	= पृषोदरादि ।
य०, यजुः	= यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र ।
श० क० द्रु०	= शब्दकल्पद्रुमकोष, राजा राधाकान्तदेव बहादुर विरचित ।
श०स्तो०म०नि०	= शब्दस्तोममहानिधि कोष, श्रीतारानाथ तर्कवाचस्पति भट्टाचार्य सङ्कलित ।
सा०पू०	= सामवेद, पूर्वार्चिक, प्रपाठक, दशति, मन्त्र । उत्तरार्चिक, प्रपाठक, अर्धप्रपाठक, सूक्त वा तृच ।
( )	, इस कोष्ठ में मन्त्र के शब्द हैं ।
[ ]	, ऐसे कोष्ठ के शब्द व्याख्या वा अध्याहार हैं ।
०—…	= अन्त के भाग में पूर्व भाग मिलाकर पूरा पद कर लें, जैसे अश्विना = ०-नौ = अश्विनौ ।

॥ओ३म्॥

अथर्ववेदभाष्यभूमिका॥



१—ईश्वरस्तुतिप्रार्थना।

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्व१र्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥१॥

अथर्व० का० १० सू० ८ म० १॥

(यः) जो परमेश्वर (भूतम्) अतीत काल (च) और (भव्यम्) भविष्यत् काल का, (च) और (यः) जो (सर्वम्) सब संसार का (च) अवश्य (अधितिष्ठति) अधिष्ठाता है। (च) और (स्वः) सुख (यस्य) जिस का (केवलम्) केवल स्वरूप है, (तस्मै) उस (जेष्ठाय) सब से बड़े (ब्रह्मणे) ब्रह्म, जगदीश्वर को (नमः) नमस्कार है॥

हे परमपिता, परमात्मन्! आप, भूत, भविष्यत्, वर्तमान और सब जगत् के स्वामी हैं, आप केवल आनन्द स्वरूप और अनन्त सामर्थ्य वाले हैं। हे प्रभु! आप हमारे हृदय में सदा विराजिये, आप को हमारा बारम्बार नमस्कार है॥

यां मेधामृषयो भूतकृतो मेधां मेधाविनो विदुः।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कृणु॥२॥

अथर्व० का० ६ सू० १०८ म० ४॥

(अग्ने) हे सर्वव्यापक, प्रकाश स्वरूप परमेश्वर! (याम्) जिस (मेधाम्) धारणवती बुद्धि का (भूतकृतः) यथार्थ काम करने हारे, (मेधाविनः) दृढ़

बुद्धि वाले, (ऋषयः) वेद का तत्त्व जानने वाले ऋषि, (विदुः) ज्ञान रखते हैं, (तथा) उस (मेधया) अचल बुद्धि से (माम्) मुझ को (अद्य) आज (मेधाविनम्) अचल बुद्धि वाला (कृणु) कर ॥

हे सर्वविद्यामय जगदीश्वर ! आप के अनुग्रह से वह दृढ़ निश्चल बुद्धि हमारे हृदय में विराजमान रहे जैसी धार्मिक, विवेकी, परोपकारी ऋषि महात्माओं की होती है, जिस से हमें वेदों का यथार्थ ज्ञान हो और हम संसार भर में उसका प्रकाश करें ॥

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः। विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम् ॥ ३ ॥

अथर्व० का० १ सू० ३१ म० ४ ॥

(नः) हमारी (मात्रे) माता के लिये (उत) और (पित्रे) पिता के लिये (स्वस्ति) आनन्द (अस्तु) होवे, और (गोभ्यः) गौओं के लिये, (पुरुषेभ्यः) पुरुषों के लिये और (जगते) जगत् के लिये (स्वस्ति) आनन्द होवे। (विश्वम्) संपूर्ण (सुभूतम्) उत्तम ऐश्वर्य और (सुविदत्रम्) उत्तम ज्ञान वा कुल (नः) हमारे लिये (अस्तु) हो, (ज्योक्) बहुत काल तक (सूर्यम्) सूर्य को (एव) ही (दृशेम) हम देखते रहें ॥

हे परम रक्षक परमात्मन् ! हमें वेद विज्ञान दीजिये जिस से हम अपने कर्तव्य को समझें और करें, अपने हितकारी माता पिता आदि सब परिवार, सब मनुष्यों, सब गौ आदि पशुओं, और सब संसार की सेवा कर सकें, और सब के आनन्द में अपना आनन्द जानें, और जैसे सूर्य के प्रकाश में सब कामों को सुख से करते हैं, वैसे ही, हे प्रकाशमय, ज्ञान स्वरूप, सर्वान्तर्यामी प्रभु ! आप के ध्यान में मग्न होकर हम सदा प्रसन्न चित्त रहें ॥

२—वेद ॥

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥ १ ॥

ऋ० १० । ९० । ९, यजु० ३१ । ७, तथा अथर्व० १९ । ६ । १३

(तस्मात्) उस (यज्ञात्) पूजनीय और (सर्वहुतः) सब के ग्रहण करने योग्य परमेश्वर से (ऋचः) ऋग्वेद [पदार्थों की गुणप्रकाशक विद्या] के मन्त्र और (सामानि) साम वेद [मोक्ष विद्या] के मन्त्र (जज्ञिरे) उत्पन्न हुये। (तस्मात्) उस से (छन्दांसि) अथर्ववेद [आनन्ददायक विद्या] के मन्त्र (जज्ञिरे) उत्पन्न हुये, और (तस्मात्) उस से ही (यजुः) यजुर्वेद [सत्कर्मों का ज्ञान] (अजायत) उत्पन्न हुआ है॥

यस्मा॒दृचो॑ अ॒पात॑क्ष॒न् यजु॒र्यस्मा॑द॒पाक॑षन्। सामा॑नि॒ यस्य॒ लोमा॑न्यथर्वाङ्गि॒रसो॒ मुख॑म्। स्क॒म्भं तं ब्रू॑हि कत॒मः स्वि॑दे॒व सः॥ २॥

अथर्व० का० १० । सू० ७ । म० २० ॥

(यस्मात्) जिस परमेश्वर से प्राप्त करके (ऋचः) पदार्थों के गुणप्रकाश मन्त्रों को (अप-अतक्षन्) उन्होंने [ऋषियों ने] सूक्ष्म किया [भले प्रकार विचारा], (यस्मात्) जिस ईश्वर से प्राप्त करके (यजुः) सत्कर्मों के ज्ञान को (अप-अकषन्) उन्होंने कस, अर्थात् कसौटी पर रक्खा, (सामानि) मोक्ष विद्यायें (यस्य) जिस के (लोमानि) रोम के समान व्यापक हैं, और (अथर्व-अङ्गिरसः) अथर्व अर्थात् निश्चल जो परब्रह्म है उसके ज्ञान के मन्त्र (मुखम्) मुख के समान मुख्य हैं, (सः) वह (एव) निश्चय करके (कतमःस्वित्) कौन सा है। [इसका उत्तर] (तम्) उसको (स्कम्भम्) खंभ के समान ब्रह्मांड का सहारा देने वाला ईश्वर (ब्रूहि) तू कह॥

इस से सिद्ध है कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ईश्वरकृत हैं,और चारों वेद सामान्यता से सार्वलौकिक सिद्धान्तों से परिपूर्ण होने के कारण मनुष्य मात्र और सब संसार के लिये कल्याणकारक हैं॥

उस परम पिता जगदीश्वर का अति धन्यवाद है कि उसने संसार की भलाई के लिये सृष्टि के आदि में अपने अटल नियमों को इन चारों वेदों के द्वारा प्रकाशित किया। यह चारों वेद एक तो सांसारिक व्यवहारों की शिक्षा से परमात्मा के ज्ञान का, और दूसरे परमात्मा के ज्ञान से सांसारिक व्यवहारों का उपदेश करते हैं। संसार में यही दो मुख्य पदार्थ हैं जिन की यथार्थ प्राप्ति और अभ्यास पर मनुष्य मात्र की उन्नति का निर्भर है। इन चारों वेदों को ही त्रयी

विद्या [तीन विद्याओं का भण्डार] कहते हैं। जिस का अर्थ परमेश्वर के कर्म उपासना और ज्ञान से संसार के साथ उपकार करना है।

वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ १ ॥

अथर्ववेद-का० ११, सू० ५, म० १७।

(ब्रह्मचर्येण) वेदविचार और जितेन्द्रियता रूपी (तपसा) तप से (राजा) राजा (राष्ट्रम्) राज्य की (वि) अनेक प्रकार से (रक्षति) रक्षा करता है। (आचार्यः) अंगों और उपाङ्गों सहित वेदों का अध्यापक, आचार्य (ब्रह्मचर्येण) वेद विद्या और इन्द्रियदमन के कारण (ब्रह्मचारिणम्) वेद विचारने वाले जितेन्द्रिय पुरुष से (इच्छते) प्रेम करता है, अर्थात् वेदों के यथावत् ज्ञान, अभ्यास, और इन्द्रियों के दमन से मनुष्य सांसारिक और पारमार्थिक उन्नति की परा सीमा तक पहुंच जाता है ॥

भगवान् कणादमुनि कहते हैं-वैशेषिक दर्शन,अध्याय ६,आह्निक १,सूत्र१ ॥

बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे ॥ १ ॥

वेद में वाक्य रचना बुद्धि पूर्वक है [अर्थात् वेद में सब बातें बुद्धि के अनुकूल हैं] ॥

पण्डित अन्नम्भट्ट तर्कसंग्रह पुस्तक के शब्दखण्ड में लिखते हैं।

वाक्यं द्विविधं वैदिकं लौकिकं च । वैदिकमीश्वरोक्तत्वात् सर्वमेव प्रमाणम् । लौकिकं त्वाप्तोक्तं प्रमाणम् ।

वाक्य दो प्रकार का है, वैदिक और लौकिक। वैदिक वाक्य ईश्वरोक्त होने से सब ही प्रमाण है। लौकिक वाक्य केवल सत्यवक्ता पुरुष का वचन प्रमाण है ॥

मनु महाराज मनुस्मृति में लिखते हैं ।

वेदमेव सदाभ्यसेत् तपस्तप्यन् द्विजोत्तमः ।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥१॥२।१६६॥

द्विजों [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों] में श्रेष्ठ पुरुष, [ब्रह्मचर्य आदि] तप तपता हुआ, वेद ही का सदा अभ्यास करे। वेदों का अभ्यास ही पण्डित पुरुष का परम तप यहां [इस जन्म में] कहा जाता है ॥ १ ॥

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।

भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति॥२॥१२।९७॥

चार वर्ण [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र] तीन लोक [स्वर्ग, अन्तरिक्ष, भूलोक], चार आश्रम [ब्रह्मचर्य, गृहस्थ वानप्रस्थ, सन्यास], और भूत, वर्तमान और भविष्यत्, अलग अलग सब वेद से प्रसिद्ध होता है ॥ २ ॥

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।

सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥३॥ १२। १०८॥

वेद शास्त्र का जानने वाला पुरुष, सेनापति के अधिकार, और राज्य, और भी दण्ड देने के पद, और सब लोगों पर आधिपत्य [चक्रवर्ति राज्य] के योग्य होता है ॥ ३ ॥

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्रतत्राश्रमे वसन् ।

इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते॥४॥१२।१०२॥

वेद शास्त्र के अर्थ का तत्त्व जानने वाला पुरुष चाहे किसी आश्रम में रहे, वह इस लोक [जन्म] में ही रहकर मोक्ष [परम आनन्द] पद के लिये योग्य होता है ॥ ४ ॥

इसी प्रकार सब शास्त्रों में वेदों की अपूर्व महिमा का वर्णन है।

इन दिनों प्रत्येक मनुष्य वेद वेद पुकार रहा है। जर्मनी, इंगलैंड आदि विदेशों में वेदों का चर्चा फैल रहा है। वेदों के भिन्न२ भागों के अनुवाद भी अंग्रेज़ी, लैटिन, जर्मन आदि भाषाओं में वहां के विद्वानों ने अपनी अपनी शक्ति के अनुसार किये हैं। मष्ट ग्रिफ़िथ साहिब ने चारों वेदों का अंग्रेज़ी अनुवाद वैदिक छन्दों में छन्दोबद्ध किया है। महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वती का वेद विषयक परिश्रम सुप्रसिद्ध है। उन के रचे निम्नलिखित वैदिक ग्रन्थ महा उपकारी हैं।

१-ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ।

२-ऋग्वेदभाष्य [जो मण्डल ७ सूक्त ६१ मन्त्र २ तक हुआ है] ।

३-यजुर्वेदभाष्य ।

४-सत्यार्थप्रकाश ।

अन्य भी विद्वानों श्री सायणाचार्य आदि ने वेदों की रक्षा और व्याख्या के लिये अनेक प्रयत्न किये हैं, और अब भी विद्वान् लोग परिश्रम उठा रहे हैं ॥

३—अथर्ववेद ॥

ऊपर कह आये हैं कि ईश्वरकृत चारों वेदों में से अथर्ववेद एक वेद है। उसके नाम छन्द (छन्दांसि), अथर्वाङ्गिरा (अथर्वाङ्गिरसः) और ब्रह्म वेद हैं। इन शब्दों के अर्थ इस प्रकार हैं। (१) अथर्ववेद, यह अथर्व [अथर्वन्] और वेद इन दो शब्दों का समुदाय है। थर्व धातु का अर्थ चलना और अथर्व का अर्थ निश्चल है, और वेद का अर्थ ज्ञान है, अर्थात् अथर्व, निश्चल, जो एक रस सर्वव्यापक परब्रह्म है, उस का ज्ञान अथर्ववेद है। (२) छन्द, इस का अर्थ आनन्ददायक है, अर्थात् उस में आनन्ददायक पदार्थों का वर्णन है। (३) अथर्वाङ्गिरा, इस पद का अर्थ यह है कि उस में अथर्व, निश्चल परब्रह्म बोधक अङ्गिरा अर्थात् ज्ञान के मन्त्र हैं। (४) ब्रह्मवेद अर्थात् जिस में ब्रह्म जगदीश्वर का ज्ञान है, और जिसके मनन और साक्षात् करने से ब्रह्माओं [ब्राह्मणों, ब्रह्मज्ञानियों] को मोक्ष सुख प्राप्त होता है ॥

---

(१) अथर्वाणोऽथनवन्तस्थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः-निरु० ११ । १८ । स्नामदिपद्यर्त्तिपॄशकिभ्यो वनिप् । उ० ४ । ११३ । इति अ + थर्व चरणे-वनिप् । वकारलोपः । न थर्वति न चरतीति अथर्वा दृढ़स्वभावः । हलश्च । पा० ३ । ३ । १२१ । इति विद ज्ञाने-घञ् । इति वेदो ज्ञानम् । अथर्वणो दृढ़स्वभावस्य परमेश्वरस्य वेदोऽथर्ववेदः ॥

(२) चन्देरादेश्च छः । उ० ४ । २१९ । इति चदि आह्लादे-असुन्, चस्य छः । चन्दयति आह्लादयतीति छन्दः ॥

(३) अङ्गतेरसिरिरुडागमश्च । उ० ४ । २२६ । इति अगि गतौ-असि, इरुट् आगमः । अङ्गति गच्छति प्राप्नोति जानाति वा परब्रह्म येनेति अङ्गिराः,वेदः । अथर्वणोऽङ्गिरसोऽथर्वाङ्गिरसः ॥

(४) बृंहेर्नोऽच्च । उ० ४ । १४६ । इति बृहि वृद्धौ-मनिन् । नकारस्य अकारः, रत्वं च । बृंहति वर्धते सर्वेभ्योऽधिको भवतीति ब्रह्म परमेश्वरः । ब्रह्मणोवेदो ब्रह्मवेदः ॥

अथर्ववेद संहिता भट्ट आर० रोथ साहिब और डबिल्यू० डी० व्हिटनी साहिब [Professors R. Roth and W. D. Whitney] ने जर्मनी देश के बर्लिन नगर में सन् १८५६ ईस्वी में छपवाई थी [See Page 10, Critical Notes on Atharva Samhita with the Commentary of Sayanacharya, Government Central Book Depot, Bombay; and page XIII, Griffith's English Translation of the Atharva Veda.] । अथर्ववेद संहितायें तो और भी छप गयी हैं । श्री सायणाचार्यकृत भाष्य केवल गवर्नमेन्ट सेन्ट्रल बुक डिपो बंबई की ओर से छपा है, वह भी असंपूर्ण [लगभग आधे वेद का भाष्य] और केवल संस्कृत में है और उसके चार वेष्टनों का मूल्य ४०) चालीस रुपया है । इस से बड़े २ धनी विद्वान् ही उस को देख सकते हैं, सामान्य पुरुषों को उसका मिलना और समझना कठिन है ।

४–अथर्ववेद विस्तार ॥

हमारे पास तीन अथर्व संहिता पुस्तक हैं, १–सायणभाष्य सहित बंबई गवर्नमेन्ट मुद्रापित, २–पं० सेवकलाल कृष्णदास मुद्रापित, और ३–अजमेर वैदिक यन्त्रालय मुद्रित । हम ने तीनों संहिताओं को मिलाकर अध्ययन किया है । विस्तार का विवरण अजमेर पुस्तक के अनुसार अन्य पुस्तकों से मिलान करके आगे लिखा है ।

अथर्ववेद (ये त्रिषप्ताः परियन्ति···) इस मन्त्र से लेकर (पुनाय्यं तदश्विना कृतं वां···] इस मन्त्र तक है । इस में २० बीस काण्ड, ७३१ सात सौ इकतीस सूक्त, और ५,९७७ पांच सहस्र नौ सौ सतहत्तर मन्त्र हैं । यह गणना आगे भूमिका के अन्त में चक्रों में वर्णित है ।

उक्त तीनों पुस्तकों को मिलाने से मन्त्र संख्या में यह भेद

(अ) पं० सेवकलाल के पुस्तक से मिलान ।

काण्ड ८ ।

	उक्त पुस्तक में मन्त्र		अन्य दो पुस्तकों में मन्त्र	भेद
सूक्त १०। पर्याय १।	मन्त्र १ से ७=७	=	१३	—६
,, ,, ३।	म० १८ से २१=४	=	८	—४
,, ,, ४।	म० २२ से २५=४	=	१६	—१२
,, ,, ५।	म० २६ से २९=४	=	१६	—१२
योग	१९		५३	—३४

काण्ड ९ ।

सूक्त ६ । पर्याय ४ ।	म० ४० से ४४=५	=	१०	—५
,, ,, ५ ।	म० ४५ से ४८=४	=	१०	—६
	योग ९		२०	—११

काण्ड १९ ।

सूक्त ३८ ।	म० १ से २ = २	=	३	—१
,, ४७ ।	म० १ से १०=१०	=	९	+१
,, ५४ ।	म० ५, ६ = २	=	१ (म० ५)	+१
,, ५५ ।	म० १ से ७ = ७	=	६	+१
,, ५७ ।	म० १ से ६ = ६	=	५	+१
	योग २७		२४	+३

काण्ड २० ।

सूक्त ९६ ।	म० १-२३=२३	=	२४	—१
सूक्त १३१ ।	म० १-२३=२३	=	२०	+३
	योग ४६		४४	+२
	महा योग १०१		१४१	—४०

सब मिलाकर पं० सेवकलाल कृष्णदास के पुस्तक में जो ४० मन्त्र घटते हैं, (हृदयात् ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात् पार्श्वाभ्याम् । यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीह्नो यक्नस्ते वि वृहामसि ।) वस्तुतः यह एक मन्त्र अन्य दोनों पुस्तकों के का० २० सू० ९६ का म० १९ उस में नहीं है । अन्य ३९। मन्त्रों की न्यूनता केवल मन्त्र भागों के छोटे बड़े और आगे पीछे होने से है, इन का पूरा पाठ तो मिलाकर अन्य पुस्तकों के तुल्य है । इस गणना से इस पुस्तक के समग्र मन्त्र ५,९७७-४०=५,९३७ होते हैं ॥

(आ)-वैदिक यन्त्रालये के पुस्तक का सायणभाष्य सहित बंबई के पुस्तक से मिलान ।

सायणभाष्य वाले पुस्तक में इतना अधिक है कि काण्ड १९ के अन्त में ७२ मन्त्र का एक पर्य्याय है, जो १८ मन्त्र इस पुस्तक के काण्ड ११ सूक्त ४

पर्याय २ में मन्त्र १ से १८ तक, और अन्य पुस्तकों के काण्ड ११ सूक्त ३ पर्याय २ में मन्त्र ३२ से ४९ तक आचुके हैं, अर्थात् इन १८ मन्त्र के ७२ मन्त्र होकर सायण भाष्यमें एक पर्याय काण्ड १६ के अन्त में अलग है। अन्य पुस्तकों में [मद्द ग्रिफ़िथ के अंगरेज़ी अनुवाद सहित] यह पर्याय काण्ड १६ के अन्त में नहीं है, केवल काण्ड ११ में ही आया है, यही पाठ हमने रक्खा है। यह पुनर्लेख सायण पुस्तक में उस समय की पाठ प्रणाली के अनुसार दीखता है। इस बात को छोड़कर शेष मन्त्र संख्या अजमेर पुस्तक के तुल्य है॥

५—सूक्त भेद॥

सायण भाष्य में ७५९ [सात सौ उनसठ] और अजमेर वैदिक यन्त्रालय की पुस्तक में ७३१ सूक्त हैं। यह २८ सूक्तों की अधिकता का विवरण नीचे दिखाया जाता है। मन्त्रों का वर्णन ऊपर हो चुका है।

काण्ड जिनमें भेद हैं	सायण भाष्य में सूक्त	वैदिक यन्त्रालय की पुस्तक में सूक्त	सायणभाष्य में अधिक
७	१२३	११८	५
८	१५	१०	५
९	१५	१०	५
११	१२	१०	२
१२	११	५	६
१३	९	४	५
६ कांड	१८५	१५७	२८

६—अनुवाक।

सूक्त और मन्त्रों के अतिरिक्त, काण्डों का विभाग अनुवाक और सूक्तों में है। परन्तु काण्डों में सूक्तों की गणना लगातार चली गयी है, इस से अनुवाकों की गणना को यहां नहीं दिखाया, पुस्तक के भीतर अपने स्थान पर दिखाया है।

७—सायण भाष्य असंपूर्ण है।

अथर्ववेदसंहिता, सायणाचार्य विरचित भाष्य सहित, गवर्नमेन्ट सेन्ट्रल बुक डिपो, बंबई बड़े खोज से छपी दीखती है, इसके अतिरिक्त और कोई भाष्य

प्रतीत नहीं होता । इस पुस्तक में केवल दस काण्डों से कुछ अधिक का भाष्य इस प्रकार है-काण्ड १, २, ३, ४, ६, ७, ८ [सूक्त ६ तक] ११, १७, १८, १९, २० [सूक्त ३७ तक] । [इतना भाष्य नहीं है-काण्ड ५, ८ (सूक्त ७-७५), ९, १०, १२, १३,१४, १५, १६, २० (सूक्त ३८- १४३)] ॥

८-अथर्ववेद पुस्तकें और अपना भाष्य ।

१—अथर्ववेद संहिता श्री सायणाचार्य विरचित भाष्य सहित,गवर्नमेन्ट बुक डिपो, बंबई,चार वेष्टन । वेष्टन १ तथा २ सन् १८९५, वेष्टन ३ तथा ४ सन् १८९८ ईसवी ।

२—अथर्ववेद संहिता मूल,पण्डित सेवकलाल कृष्णदास संशोधित-बंबई, सन् १८९३ [पत्थर का छापा] ।

३—अथर्ववेद संहिता,मूल,वैदिक यन्त्रालय,अजमेर, संवत् १९५८ विक्रमीय [सन् १९०१ ईस्वी] ।

४—अथर्ववेद संहिता, अंग्रेज़ी अनुवाद, भट्ट ग्रिफ्फ़िथ साहिब कृत दो वेष्टन,वेष्टन १ सन् १८९५,वेष्टन २ सन् १८९६ ई० ।

इस भाष्य के बनाने में यह सब पुस्तकें और श्री सायणाचार्य कृत ऋग्वेद और सामवेद भाष्य, श्री महीधर कृत शुक्ल यजुर्वेद भाष्य, श्री मद्दयानन्द सरस्वती कृत ऋग्वेद और यजुर्वेद भाष्य, पण्डित तुलसी राम कृत सामवेद भाष्य,यास्क मुनि कृत निघण्टु और निरुक्त,और पाणिनि मुनि कृत अष्टाध्यायी व्याकरण, सर राजा राधाकान्त देव बहादुर कृत शब्द कल्प द्रुम कोष, और अन्य ग्रन्थ मुझे बहुत उपयोगी हुये हैं, इस लिये उन ग्रन्थ कर्त्ता महाशयों को मेरा हार्दिक धन्यवाद है ।

हमारे भाष्य में संहिता पाठ वैदिक यन्त्रालय अजमेर के पुस्तक का है, पदपाठ इस पुस्तक और सायण भाष्य के अनुसार है। पाठान्तर टिप्पणियों में दिखाया है । स्पष्टता और संक्षेप के ध्यान से भाष्य का क्रम यह रक्खा है ।

१-देवता, छन्द, उपदेश ।

२-मूलमन्त्र-स्वरसहित ।

३-पदपाठ-स्वरसहित ।

४-सान्वय भाषार्थ ।

५-भावार्थ ।

६-आवश्यक टिप्पणी, संहिता पाठान्तर, अनुरूप विषय और अन्य वेदों में मन्त्र का पता आदि विवरण ।

७-शब्दार्थ व्याकरणादि प्रक्रिया-व्याकरण, निघण्टु, निरुक्त, पर्य्यायआदि ।

सहज पते के लिये काण्ड काण्ड के विषय आदि, और अथर्ववेद के अन्य वेदों में मन्त्रों की सूची भी दियी है ।

९-ऋषि, देवता, छन्द ।

ऋषि वह महात्मा कहलाते हैं जिन्हों ने वेदों के सूक्ष्म अर्थों को प्रकाशित किया है [निरु० १ । २० । तथा २ । ११], देवता उसको कहते हैं जिस के गुणों का वर्णन मन्त्र में प्रधानता से हो [निरु० ७ । १], मिताक्षर वाक्य छन्द कहाते हैं । जिस प्रकार ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद में सूक्त इत्यादि के साथ ऋषि, देवता और छन्द लिखे हैं, उस प्रकार अथर्ववेद संहिताओं में नहीं हैं । हम ने इस भाष्य में सूक्तों के शीर्षक पर देवता, छन्द और प्रकरण दिये हैं । ऋषियों का निश्चय नहीं हो सका ।

१०-निवेदन ।

निःसन्देह अब वह समय है कि सब स्त्री पुरुष घर घर में वेदों का अर्थ जानें और धर्मज्ञ होकर पुरुषार्थी बनें । भारतीय और अन्य देशीय विद्वान् भी वेदों का अर्थ खोजने और प्रकाशित करने में बड़ा परिश्रम उठा रहे हैं । मेरा भी संकल्प है कि अथर्ववेद का यथाशक्ति सरल, स्पष्ट, प्रामाणिक, और अल्प-मूल्य भाष्य एक एक पूरे काण्ड के पुस्तक रूप में प्रस्तुत करूं, जिससे सब लोग स्वाध्याय [वेद के अर्थ समझने और विचारने] में लाभ उठावें । और यदि वैदिक जिज्ञासु वेदों के सत्यार्थ और तत्त्वज्ञान प्राप्ति में कुछ भी सहायता पावेंगे तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूंगा ।

५२ लूकरगंज, प्रयाग
(अलाहाबाद) ।
भाद्र कृष्ण जन्माष्टमी १९६९ वि०,
५ सितम्बर १९१२ ।

क्षेमकरणदास त्रिवेदी ।
जन्म, कार्त्तिक शुक्ला ७ संवत् १९०५ विक्रमीय,
(ता० ३ नवम्बर १८४८ ईस्वी)
जन्मस्थान, ग्राम शाहपुर मडराक,
ज़िला अलीगढ़ ॥

काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड	
सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र
काण्ड १		२९	६	२०	५	१०	१३	५	७	३५	७
१	४	३०	४	२१	५	११	८	६	८	३६	१०
२	४	३१	४	२२	५	१२	९	७	७	३७	१२
३	९	३२	४	२३	५	१३	७	८	७	३८	७
४	४	३३	४	२४	८	१४	६	९	१०	३९	१०
५	४	३४	५	२५	५	१५	८	१०	७	४०	८
६	४	३५	४	२६	५	१६	७	११	१२	४०	३२४
७	७	३५	१५३	२७	७	१७	९	१२	७	काण्ड ५	
८	४	काण्ड २		२८	५	१८	६	१३	७	१	९
९	४	१	५	२९	७	१९	८	१४	९	२	९
१०	४	२	५	३०	५	२०	१०	१५	१६	३	११
११	६	३	६	३१	५	२१	१०	१६	९	४	१०
१२	४	४	६	३२	६	२२	६	१७	८	५	९
१३	४	५	७	३३	७	२३	६	१८	८	६	१४
१४	४	६	५	३४	५	२४	७	१९	८	७	१०
१५	४	७	५	३५	५	२५	६	२०	९	८	९
१६	४	८	५	३६	८	२६	६	२१	७	९	८
१७	४	९	५	३६	२०७	२७	६	२२	७	१०	८
१८	४	१०	८	काण्ड ३		२८	६	२३	७	११	११
१९	४	११	५	१	६	२९	८	२४	७	१२	११
२०	४	१२	८	२	६	३०	७	२५	७	१३	११
२१	४	१३	५	३	६	३१	११	२६	७	१४	१३
२२	४	१४	६	४	७	३१	२३०	२७	७	१५	११
२३	४	१५	६	५	८	काण्ड ४		२८	७	१६	११
२४	४	१६	५	६	८	१	७	२९	७	१७	१८
२५	४	१७	७	७	७	२	८	३०	८	१८	१५
२६	४	१८	५	८	६	३	७	३१	७	१९	१५
२७	४	१९	५	९	६	४	८	३२	७	२०	१२
२८	४							३३	८		
								३४	८		

काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड	
सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र
२१	१२	१६	४	४६	३	७६	४	१०६	३	१३६	३
२२	१४	१७	४	४७	३	७७	३	१०७	४	१३७	३
२३	१३	१८	३	४८	३	७८	३	१०८	५	१३८	५
२४	१७	१९	३	४९	३	७९	३	१०९	३	१३९	५
२५	१३	२०	३	५०	३	८०	३	११०	३	१४०	३
२६	१२	२१	३	५१	३	८१	३	१११	४	१४१	३
२७	१२	२२	३	५२	३	८२	३	११२	३	१४२	३
२८	१४	२३	३	५३	३	८३	४	११३	३	१४२	४५४
२९	१५	२४	३	५४	३	८४	४	११४	३	काण्ड ७	
३०	१७	२५	३	५५	३	८५	३	११५	३	१	२
३१	१२	२६	३	५६	३	८६	३	११६	३	२	१
३१	२७६	२७	३	५७	३	८७	३	११७	३	३	१
		२८	३	५८	३	८८	३	११८	३	४	१
काण्ड ६		२९	३	५९	३	८९	३	११९	३	५	५
		३०	३	६०	३	९०	३	१२०	३	६	४
१	३	३१	३	६१	३	९१	३	१२१	४	७	१
२	३	३२	३	६२	३	९२	३	१२२	५	८	१
३	३	३३	३	६३	४	९३	३	१२३	५	९	४
४	३	३४	५	६४	३	९४	३	१२४	३	१०	१
५	३	३५	३	६५	३	९५	३	१२५	३	११	१
६	३	३६	३	६६	३	९६	३	१२६	३	१२	४
७	३	३७	३	६७	३	९७	३	१२७	३	१३	२
८	३	३८	४	६८	३	९८	३	१२८	४	१४	४
९	३	३९	३	६९	३	९९	३	१२९	३	१५	१
१०	३	४०	३	७०	३	१००	३	१३०	४	१६	१
११	३	४१	३	७१	३	१०१	३	१३१	३	१७	४
१२	३	४२	३	७२	३	१०२	३	१३२	५	१८	२
१३	३	४३	३	७३	३	१०३	३	१३३	५	१९	१
१४	३	४४	३	७४	३	१०४	३	१३४	३	२०	६
१५	३	४५	३	७५	३	१०५	३	१३५	३	२१	१

काण्ड		काण्ड		काण्ड	
सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र
२२	२	५२	२	८२	६
२३	१	५३	७	८३	४
२४	१	५४	२	८४	३
२५	२	५५	१	८५	१
२६	८	५६	८	८६	१
२७	१	५७	२	८७	१
२८	१	५८	२	८८	१
२९	२	५९	१	८९	४
३०	१	६०	७	९०	३
३१	१	६१	२	९१	१
३२	१	६२	१	९२	१
३३	१	६३	१	९३	१
३४	१	६४	२	९४	१
३५	३	६५	३	९५	३
३६	१	६६	१	९६	१
३७	१	६७	१	९७	८
३८	५	६८	३	९८	१
३९	१	६९	१	९९	१
४०	२	७०	५	१००	१
४१	२	७१	१	१०१	१
४२	२	७२	३	१०२	१
४३	१	७३	११	१०३	१
४४	१	७४	४	१०४	१
४५	२	७५	२	१०५	१
४६	३	७६	६	१०६	१
४७	२	७७	३	१०७	१
४८	२	७८	२	१०८	२
४९	२	७९	४	१०९	७
५०	९	८०	४	११०	३
५१	१	८१	६	१११	१
				११२	२
				११३	२
				११४	२
				११५	४

काण्ड	
सूक्त	मंत्र
११६	२
११७	१
११८	१
११८	२८६

काण्ड ८	
१	२१
२	२८
३	२६
४	२५
५	२२
६	२६
७	२८
८	२४
९	२६
१०-१	१३
(२)	१०
(३)	८
(४)	१६
(५)	१६
(६)	४
१०	२९३

काण्ड ९	
१	२४
२	२५
३	३१
४	२४
५	३८
६(१)	१७

काण्ड	
सूक्त	मंत्र
(२)	१३
(३)	९
(४)	१०
(५)	१०
(६)	१४
७	२६
८	२२
९	२२
१०	२८
१०	३१३

काण्ड १०	
१	३२
२	३३
३	२५
४	२६
५	५०
६	३५
७	४४
८	४४
९	२७
१०	३४
१०	३५०

काण्ड ११	
१	३७
२	३१
३	५६
४	२६
५	२६

काण्ड	
सूक्त	मंत्र
६	२३
७	२७
८	३४
९	२६
१०	२७
१०	३१३

काण्ड १२	
१	६३
२	५५
३	६०
४	५३
५	७३
५	३०४

काण्ड १३	
१	६०
२	४६
३	२६
४	५६
४	१८८

काण्ड १४	
१	६४
२	७५
२	१३९

काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड	
सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र
काण्ड १५		काण्ड १७		१९	११	४९	१०	३	३	३३	३
१	८	१	३०	२०	४	५०	७	४	३	३४	१८
२	२८	१	३०	२१	१	५१	२	५	७	३५	१६
३	११	काण्ड १८		२२	२१	५२	५	६	९	३६	११
४	१८	१	६१	२३	३०	५३	१०	७	४	३७	११
५	१६	२	६०	२४	८	५४	५	८	३	३८	६
६	२६	३	७३	२५	१	५५	६	९	४	३९	५
७	५	४	८९	२६	४	५६	६	१०	२	४०	३
८	३	४	२८३	२७	१५	५७	५	११	११	४१	३
९	३	काण्ड १९		२८	१०	५८	६	१२	७	४२	३
१०	११	१	३	२९	९	५९	३	१३	४	४३	३
११	११	२	५	३०	५	६०	२	१४	४	४४	३
१२	११	३	४	३१	१४	६१	१	१५	६	४५	३
१३	१४	४	४	३२	१०	६२	१	१६	१२	४६	३
१४	२४	५	१	३३	५	६३	१	१७	१२	४७	२१
१५	९	६	१६	३४	१०	६४	४	१८	६	४८	६
१६	७	७	५	३५	५	६५	१	१९	७	४९	७
१७	१०	८	७	३६	६	६६	१	२०	७	५०	२
१८	५	९	१४	३७	४	६७	८	२१	११	५१	४
१८	२२०	१०	१०	३८	३	६८	१	२२	६	५२	३
काण्ड १६		११	६	३९	१०	६९	४	२३	९	५३	३
१	१३	१२	१	४०	४	७०	१	२४	९	५४	३
२	६	१३	११	४१	१	७१	१	२५	७	५५	३
३	६	१४	१	४२	४	७२	१	२६	६	५६	६
४	७	१५	६	४३	८	७२	४५३	२७	६	५७	१६
५	१०	१६	२	४४	१०	काण्ड २०		२८	४	५८	४
६	११	१७	१०	४५	१०	१	३	२९	५	५९	४
७	१३	१८	१०	४६	७	२	४	३०	५	६०	६
८	३३			४७	९			३१	५	६१	६
९	४			४८	६			३२	३	६२	१०
९	१०३										

अथर्ववेद सूक्त मन्त्र चक्र ।

काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड	
सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र
६३	९	७७	८	९१	१२	१०५	५	१२३	२	१४१	५
६४	६	७८	३	९२	२१	१०६	३	१२४	६	१४२	६
६५	३	७९	२	९३	८	१०७	१५	१२५	७	१४३	९
६६	३	८०	२	९४	११	१०८	३	१२६	२३		
६७	७	८१	२	९५	४	१०९	३	१२७	१४		
६८	१२	८२	२	९६	२४	११०	३	१२८	१६		
६९	१२	८३	२	९७	३	१११	३	१२९	२०		
७०	२०	८४	३	९८	२	११२	३	१३०	२०		
७१	१६	८५	४	९९	२	११३	२	१३१	२०		
७२	३	८६	१	१००	३	११४	२	१३२	१६		
७३	६	८७	७	१०१	३	११५	३	१३३	६		
७४	७	८८	६	१०२	३	११६	२	१३४	६		
७५	३	८९	११	१०३	३	११७	३	१३५	१३		
७६	८	९०	३	१०४	४	११८	४	१३६	१६		
						११९	२	१३७	१४		
						१२०	२	१३८	३		
						१२१	२	१३९	५		
						१२२	३	१४०	५	१४३	९५८

योगचक्र ।

काण्ड	सूक्त	मन्त्र	काण्ड	सूक्त	मन्त्र	काण्ड	सूक्त	मन्त्र	काण्ड	सूक्त	मन्त्र
१	३५	१५३	६	१४२	४५४	११	१०	३१३	१६	९	१०३
२	३६	२०७	७	११८	२८६	१२	५	३०४	१७	१	३०
३	३१	२३०	८	१०	२९३	१३	४	१८८	१८	४	२८३
४	४०	३२४	९	१०	३१३	१४	२	१३९	१९	७२	४५३
५	३१	३७६	१०	१०	३५०	१५	१८	२२०	२०	१४३	९५८
५	१७३	१२९०	५	२९०	१६९६	५	३९	११६४	५	२२९	१८२७

महायोग, काण्ड २०, सूक्त ७३१ मन्त्र ५,९७७॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
१	ये त्रिषप्ता परियन्ति	वाचस्पति	बुद्धि वृद्धि	अनुष्टुप्
२	विद्मा शरस्य पितरं	इन्द्र	तथा	अनुष्टुप् त्रिष्टुप्
३	विद्मा शरस्य पितरं	पर्जन्य आदि	शान्ति करण	पङ्क्ति, अनुष्टुप्
४	अम्बयो यन्त्यध्वभिर्	आपः	परोपकार	गायत्री, पङ्क्ति ।
५	आपो हिष्ठा मयोभुवस्	तथा	बल प्राप्ति	गायत्री ।
६	शं नो देवी रभीष्टय	”	आरोग्यता	गायत्री, पङ्क्ति ।
७	स्तुवानमग्न आ वह	इन्द्राग्नी	सेनापति	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् ।
८	इदं हविर्यातुधानान्	अग्नि, सोम	तथा	” ”
९	अस्मिन् वसु वसवो	विश्वे देवा	सर्वसम्पत्ति	त्रिष्टुप्
१०	अयं देवानामसुरो	वरुण	वरुण वर्णन	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप् ।
११	वषट् ते पूषन्नस्मिन्	पूषा	सृष्टि विद्या	अनुष्टुप्, पङ्क्ति ।
१२	जरायुजः प्रथम उस्रियः	वृषा	ईश्वर आदि	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप् ।
१३	नमस्ते अस्तु विद्युते	प्रजापति	आत्मरक्षा	अनुष्टुप्, जगती
१४	भगमस्या वर्च आदिष्य	वधूवर	विवाह	अनुष्टुप् ।
१५	सं संस्रवन्तु सिन्धवः	प्रजापति	ऐश्वर्यप्राप्ति	अनुष्टुप्, आदि
१६	योऽमावास्यां रात्रि	अग्निआदि	विघ्ननाश	अनुष्टुप् ।
१७	अमूर्या यन्ति योषितो	हिरा	नाड़ी छेदन	अनुष्टुप्, गायत्री
१८	निर्लक्ष्म्यं ललाम्यं	सविता	राजधर्म	अनुष्टुप्, जगती ।
१९	मा नो विदन् विव्याधि	इन्द्र	जय और न्याय	अनुष्टुप्, पङ्क्ति ।
२०	अदारसृद् भवतु देव	सोम, मरुत्	शत्रुओं से रक्षा	जगती, अनुष्टुप् ।
२१	स्वस्तिदा विशां पतिर्	इन्द्र	राजनीति	अनुष्टुप्
२२	अनु सूर्यमुदयतां	सूर्य	रोग का नाश	”
२३	नक्तं जातास्योषधे	ओषधि	रोग नाश	”
२४	सुपर्णो जातः प्रथमस्	तथा	तथा	अनुष्टुप्, पङ्क्ति ।
२५	यदग्निरापो अदहत्	अग्नि	रोगशान्ति	त्रिष्टुप् ।
२६	आरे ऽसावस्मदस्तु	इन्द्र	युद्ध प्रकरण	गायत्री ।
२७	अमूः पारे पृदाक्वस्	प्रजापति	”	पङ्क्ति, अनुष्टुप् ।
२८	उप प्रागाद् देवो अग्नी	अग्नि	”	अनुष्टुप् ।
२९	अभी वर्तेन मणिना	ब्रह्मणस्पति	राजतिलक	”
३०	विश्वे देवा वसवो	विश्वे देवा	”	त्रिष्टुप् ।
३१	आशानामाशापालेभ्य	प्रजापति	पुरुषार्थ	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् ।
३२	इदं जनासो विदथ	ब्रह्म	ब्रह्मविचार	अनुष्टुप् ।

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
३३	हिरण्यवर्णाः शुचयः	आपः	तन्मात्रायें	त्रिष्टुप् ।
३४	इयं वीरुन्मधुजाता	वीरुध्=लता	विद्याप्राप्ति	अनुष्टुप्
३५	यदाबध्नन् दाक्षायणा	हिरण्य	सुवर्ण आदि	त्रिष्टुप् ।

२—अथर्ववेद, काण्ड १ के मन्त्र अन्य वेदों में संपूर्ण वा कुछ भेद से।

संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद सूक्त.मंत्र	ऋग्वेद, मंडल, सूक्त, मंत्र	यजुर्वेद, अध्याय. मंत्र	सामवेद, पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक, इत्यादि
१	अम्बयो यन्त्यध्वभिर्	४ । १	१ । २३ । १६		
२	अमूर्या उप सूर्ये	४ । २	१ । २३ । १७		
३	अपो देवीरूप ह्वये	४ । ३	१ । २३ । १८		
४	अप्स्वन्तरमृत	४ । ४	१ । २३ । १९	९ । ६	
५	आपो हि ष्ठा मयो	५ । १	१० । ९ । १	११।५०–५२	
६	यो वः शिवतमो	५ । २	१० । ९ । २	तथा	उ०६।२।१०
७	तस्मा अरं गमाम वो	५ । ३	१० । ९ । ३	३६।१४–१६	
८	ईशाना वार्याणां	५ । ४	१० । ९ । ५		
९	शं नो देवीरभिष्टय	६। १	१। २३। २०,२१	३६ । १२	पू०१।३।१३
१०	अप्सु मे सोमो	६। २	१०। ९ । ४, ६		
११	आपः पृणीत भूषजं	६ । ३	१० । ९ । ७		
१२	यो नः स्वो यो अरणः	१९ । ३.४	६ । ७५। १९		
१३	वि महच्छर्म यच्छ	२० । ३	१० । १५२ । ५		उ०९।३।८
१४	शास इत्था महाँ असि	२० । ४	१० । १५२ । १		
१५	स्वस्तिदा विशां पति	२१ । १	१० । १५२ । २		
१६	वि न इन्द्र मृधो जहि	२१ । २	१० । १५२ । ३		
१७	वि रक्षो वि मृधो जहि	२१ । ३	१० । १५२। ४		उ०९।३।७
१८	अपेन्द्र द्विषतो मनो	२१ । ४	१०। १५२। ५		
१९	सुकेषु ते हरिमाणं	२२ । ४	१ । ५० । १२		
२०	अभी वर्तेन मणिना	२९ । १	१०। १७४। १		
२१	अभिवृत्य सपत्नानभि	२९ । २	१० । १७४ ।२		
२२	अभि त्वा देवः सविता	२९ । ३	१० । १७४ ।३		
२३	उदसौसूर्यो अगादुदिदं	२९ । ५	१० । १५९ ।१		
२४	सपत्नक्षयणो वृषा	२९ । ६	१० । १७४ ।५		
२५	यदाबध्नन् दाक्षायणा	३५ । १	—	३४ । ५२	
२६	नैनं रक्षांसि न पिशाचाः	३५ । २	—	३४ । ५१	

—o—

ओ३म् ।

अथर्ववेदः ॥

प्रथमं काण्डम् ॥

प्रथमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १ ॥

मन्त्राः १-४ । वाचस्पतिर्देवता । अनुष्टुप् छन्दः, ८×४ अक्षराणि ॥

बुद्धिवृद्ध्युपदेशः—बुद्धि की वृद्धि के लिये उपदेश ।

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः ।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥ १ ॥

ये । त्रि-सप्ताः । परि-यन्ति । विश्वा । रूपाणि । बिभ्रतः ।
वाचः । पतिः । बला । तेषाम् । तन्वः । अद्य । दधातु । मे ॥ १ ॥

सान्वय भाषार्थ—(ये) जो पदार्थ (त्रि-सप्ताः) १-सब के संतारक, रक्षक परमेश्वर के सम्बन्ध में, यद्वा, २—रक्षणीय जगत् [यद्वा, —तीन से सम्बन्धी ३-तीनों काल, भूत, वर्तमान, और भविष्यत् । ४-तीनों लोक, स्वर्ग, मध्य, और भूलोक । ५-तीनों गुण, सत्व, रज और तम । ६-ईश्वर, जीव,

---

१—शब्दार्थव्याकरणादिप्रक्रिया—ये । पदार्थाः । त्रि-सप्ताः । तरतेर्ड्रिः । उ० ५ । ६६ । इति तॄ तरणे—ड्रि । तरति तारयति तार्यते वा त्रिः ।

और प्रकृति। यद्वा, तीन और सात = दस। ७-चार दिशा, चार विदिशा, एक ऊपर की और एक नीचे की दिशा। ८-पांच ज्ञान इन्द्रिय, अर्थात् कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका, और पांच कर्म इन्द्रिय, अर्थात् वाक्, हाथ, पांव, पायु, उपस्थ। यद्वा, तीन गुणित सात=इक्कीस। ९-महाभूत ५+प्राण ५+ज्ञान इन्द्रिय ५+कर्म इन्द्रिय ५+अन्तः करण १ इत्यादि] के सम्बन्धमें [वर्त्तमान] होकर, (विश्वा=विश्वानि) सब (रूपाणि) वस्तुओं को (बिभ्रतः) धारण करते हुये (परि) सब ओर (यन्ति) व्याप्त हैं। (वाचस्पतिः) वेदरूप वाणी का स्वामी परमेश्वर (तेषाम्) उन के (तन्वः) शरीरके (बला=बलानि) बलोंको (अद्य) आज (मे) मेरे लिये (दधातु) दान करे॥१॥

भावार्थ—आशय यह है कि तृण से लेकर परमेश्वर पर्यन्त जो पदार्थ संसार की स्थिति के कारण हैं, उन सब का तत्त्वज्ञान (वाचस्पतिः) वेद वाणी के स्वामी सर्वगुरु जगदीश्वर की कृपा से सब मनुष्य वेद द्वारा प्राप्त करें और उस अन्त-

---

परमेश्वरो जगद्वा। संख्यावाची वा। सप्यशूभ्यां तुट् च। उ० १। १५७। इति षप समवाये—कनिन्, तुट् च। सपति समवैतीति सप्तन् संख्याभेदो वा। यद्वा, षप समवाये-क्त। त्रिणा तारकेण परमेश्वरेण तारणीयेण जगता वा सह सम्बद्धाः पदार्थाः। यद्वा। त्रयश्च सप्त चेति त्रिषप्ता दश देवाः। यद्वा। त्रिगुणिताः सप्त एकविंशतिसंख्याकाः पदार्थाः। डच्प्रकरणे संख्यायास्तत्पुरुषस्योपसंख्यानं कर्तव्यम्। वार्तिकम्, पा० ५। ४। ७३। इति समासे डच्। विशेषव्याख्या भाषायां क्रियते। **परि-यन्ति**। इण् गतौ—लट्। परितः सर्वतो गच्छन्ति व्याप्नुवन्ति। **विश्वा**। अशू प्रुषिलटिकणिखटिविशिभ्यः क्वन्। उ० १। १५१। इति विश प्रवेशे-क्वन्। शेश्छन्दसि बहुलम्। पा० ६। १। ७०। इति शेर्लोपः। विश्वानि। सर्वाणि। **रूपाणि**। खष्प शिल्प शष्प वाष्परूपपर्पतल्पाः। उ० ३। २८। इति रु ध्वनौ—प प्रत्ययो दीर्घश्च। रूयते कीर्त्यते तद् रूपम्। यद्वा, रूप रूपकरणे—अच्। सौंदर्याणि, चेतनाचेतनात्मकानि वस्तूनि। **बिभ्रतः**। डु भृञ् धारणपोषणयोः—लटः शतृ। जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः। नाभ्यस्ताच्छतुः। पा० ७। १। ७८। इति नुमः प्रतिषेधः। धारयन्तः। पोषयन्तः। **वाचः**। क्विब् वचिप्रच्छिश्रि०। उ० २। ५७। इति वच् वाचि—क्विप्। दीर्घश्च। वाण्याः। वेदात्मिकायाः। **पतिः**। पातेर्डतिः। उ० ४। ५७। इति पा रक्षणे—डति। रक्षकः। सर्वगुरुः परमेश्वरः। **वाचस्पतिः**—षष्ठ्याः पतिपुत्र०। पा० ८। ३। ५३। इति विसर्गस्य सत्वम्। **बला**। बल हिंसे जीवने

र्यामी पर पूर्ण विश्वास करके पराक्रमी और परोपकारी होकर सदा आनन्द भोगें ॥१॥

भगवान् पतञ्जलि ने कहा है—योगदर्शन, पाद १ सूत्र २६।

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥

वह ईश्वर सब पूर्वजों का भी गुरु है क्योंकि वह काल से विभक्त नहीं होता।

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह।

वसोष्पते नि रमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ २ ॥

पुनः। आ। इहि। वाचः। पते। देवेन। मनसा। सह।

वसोः। पते। नि। रमय। मयि। एव। अस्तु। मयि। श्रुतम् ॥ २ ॥

भाषार्थ (वाचस्पते) हे वाणी के स्वामी परमेश्वर! तू (पुनः) वारंवार (एहि) आ। (वसोः पते) हे श्रेष्ठ गुणके रक्षक! (देवेन) प्रकाशमय (मनसा सह) मन के साथ (नि) निरन्तर (रमय) [मुझे] रमण करा, (मयि) मुझ में वर्त्तमान (श्रुतम्) वेदविज्ञान (मयि) मुझ में (एव) ही (अस्तु) रहे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न पूर्वक (वाचस्पति) परम गुरु परमेश्वर का ध्यान निरन्तर करता रहे और पूरे स्मरण के साथ वेद विज्ञान से अपने हृदय को शुद्ध करके सदा सुख भोगे ॥

च—पचाद्यच्। पूर्ववत् शेर्लोपः। बलानि। तेषाम्। त्रिसप्तानां पदार्थानाम् तन्वः। भृमृशीङ्०। उ० १। ७। इति तनु विस्तृतौ— उ प्रत्ययः। ततः स्त्रियाम् ऊङ्। उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य। पा० ८। २। ४। इति विभक्तेः स्वरितः,उदात्तस्य ऊकारस्य यणि परिवर्त्तिते। तन्वाः,शरीरस्य। अद्य। सद्यः परुत्परार्यैषमः०। पा० ५। ३। २२। इति इदम् शब्दस्य अश्भावः, द्यस् प्रत्ययो दिनेऽर्थे च निपात्यते। अस्मिन् दिने, अध्ययनकाले। दधातु। डुधाञ् धारणपोषणयोः, दाने च—लोट्। जुहोत्यादिः। शपः श्लुः। धारयतु, स्थापयतु, ददातु। मे। मह्यम्, मदर्थम्।

२—पुनः। पनाय्यते स्तूयत इति। पन स्तुतौ-अर्, अकारस्य उत्वं पृषोदरादित्वात्। अवधारणेन। वारंवारम्। आ+इहि। आ+इण् गतौ लोट्। आगच्छ। वाचः+पते। मं० १। हे वाण्याः स्वामिन्, हे ब्रह्मन्। वाचस्पतिर्वाचः पाता वा पालयिता वा- नि० १०। १७। देवेन। नन्दिग्रहि-

टिप्पणी—भगवान् यास्कमुनि ने (वाचस्पति) का अर्थ "वाचःपाता वा पालयिता वा"—अर्थात् वाणी की रक्षा करने वाला या कराने वाला किया है-निरु०१० । १७ । और निरु०१० । १८ । में उदाहरण रूप से इस मन्त्र का पाठ इस प्रकार है ।

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह
वसोष्पते निरामय मय्येव तन्वं १ मम ॥ १ ॥

हे वाणी के स्वामी तू वारम्वार आ । हे धन वा अन्न के रक्षक ! प्रकाशमय मन के साथ मुझ मेंही मेरे शरीर को नियम पूर्वक रमण करा ॥

मन की उत्तम शक्तियों के बढ़ाने के लिये (यज्जाग्रतो दूरमुदेति दैवम्) इत्यादि यजुर्वेद अ० ३४ म० १–६ भी हृदयस्थ करने चाहियें ।

इहैवाभि वि तनूभे आर्त्नी इव ज्यया ।
वाचस्पतिर्नि यच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ ३ ॥

इह । एव । अभि । वि । तनु । उभेइति । आर्त्नीइवेत्यार्त्नी इव । ज्यया
वाचः । पतिः । नि । यच्छतु । मयि । एव । अस्तु । मयि । श्रुतम् ॥ ३ ॥

भावार्थ—(इह) इस के ऊपर (एव) ही (अभि) चारों ओर से (वितनु)

पचादिभ्योल्युणिन्यचः । पा० ३ । १ । १३४ । इति दिवु क्रीड़ाविजिगीषा व्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु — पचाद्यच् । दिव्येन, द्योतकेन, प्रकाशमयेन । **मनसा** । सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८६ । इति मन ज्ञाने असुन् । चित्तेन, अन्तःकरणेन । **वसोः** । शृस्वृस्निहीति । उ० १ । १० । इति वस निवासे आच्छादने—उ प्रत्ययः । श्वसो वसीयश्श्रेयसः । पा० ५ । ४ । ८० । अत्र वसु शब्दः प्रशस्तवाची । श्रेष्ठगुणस्य । अथवा छन्दसि वसुनः धनस्य । **पते** । मं० १ । पालयितः, स्वामिन् । **वसोष्पते** । षष्ठ्याः पतिपुत्र० । पा० ८ । ३ । ५३ । इति विसर्गस्य सत्वम् । आदेशप्रत्यययोः । पा० ८ । ३ । ५९ । इति षत्वम् । **नि** । नियमेन, नितराम् । **रमय** । हेतुमतिच । पा० ३ । १ । २६ । इति रमु क्रीड़ायाम्—णिच्—लोट् । णिचि वृद्धिप्राप्तौ । मितां ह्रस्वः । पा० ६ । ४ । ९२ । इति मित्त्वात् उपधाह्रस्वः । क्रीड़य, आनन्दय माम् । **मयि** । ममात्मनि वर्त्तमानम् । **श्रुतम्** । श्रूयतेस्म यदिति । श्रु श्रुतौ–क्त । अधीतम्, वेदशास्त्रम् ॥

३—**इह** । अत्र, अस्योपरि, अस्मिन् ब्रह्मचारिणि, ममोपरि । **अभि** ।

तू अच्छे प्रकार फैल, (इव) जैसे (उभे) दोनों (आर्त्नी) धनुष कोटियें (ज्यया) जय के साधन, चिल्लाके साथ [तन जाती हैं]। (वाचस्पतिः) वाणी का स्वामी (नियच्छतु) नियम में रक्खे, (मयि) मुझ में वर्त्तमान (श्रुतम्) वेद विज्ञान (मयि) मुझ में (एव) ही (अस्तु) रहे ॥३॥

भावार्थ—जैसे संग्राम में शूर वीर धनुष् की दोनों कोटियों को डोरी में चढ़ा कर बाण से रक्षा करता है उसी प्रकार आदिगुरु परमेश्वर अपने कृपा-युक्त दोनों हाथों को [अर्थात् अज्ञान की हानि और विज्ञान की वृद्धि को] इस मुझ ब्रह्मचारी पर फैला कर रक्षा करे और नियम पालन में दृढ़ करके परम-सुखदायक ब्रह्मविद्या का दान करे और विज्ञान का पूरा स्मरण मुझमें रहे ॥३॥ भगवान् यास्क के अनुसार-निरुक्त ६। १७ (ज्या) शब्द का अर्थ जीतने वाली यद्वा आयु घटाने वाली अथवा बाणों को छोड़ने वाली वस्तु है ॥

उप॑हूतो वा॒चस्पति॒रुपा॒स्मान् वा॒चस्पति॑र्ह्वयताम्।
सं श्रु॒तेन॑ गमेमहि॒ मा श्रु॒तेन॒ वि रा॑धिषि ॥ ४ ॥

उप॑-हूतः। वा॒चः। पतिः॑। उप॑। अ॒स्मान्। वा॒चः। पतिः॑। ह्व॒य॒ता॒म्। सम्। श्रु॒तेन॑। ग॒मे॒म॒हि॒। मा। श्रु॒तेन॑। वि। रा॒धि॒षि॒ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(वाचस्पतिः) वाणीका स्वामी, परमेश्वर (उपहूतः) समीप बुलाया गया है, (वाचस्पतिः) वाणी का स्वामी (अस्मान्) हम को उपह्वय-

---

अभितः सर्वतः। वितनु। तनु विस्तारे-लोट्, अकर्मकः। विततुहि, वितन्यस्व विस्तृतो भव। उभे। ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्। पा० १। १। ११। इति प्रगृह्यम्। इव। आर्त्नी। आङ्+ऋ गतौ-क्तिन्, नकारोपसर्जनम्। पूर्ववत् प्रगृह्यम् आर्त्नी, धनुष्कोटी, अटन्यौ धनुः प्रान्ते। आर्त्नी अर्तन्यौ वारण्यौ वारिषण्यौ वा निरु० ६। ३६॥ ज्यया। ज्या जयतेर्वा जिनातेर्वा प्रजावयतीषूनिति वा निरु० ६। १७। अघ्न्यादयश्च। उ० ४। ११२। इति जि जये, वा, ज्या वयोहानौ णिच्—वा, जु रंहसि गतौ, णिच्—यक्। निपातनात् साधुः। यद्वा। अन्येष्वपि दृश्यते। पा० ३। २। १०१। इति ज्यु गत्याम् यद्वा, ज्या वयोहानौ, णिच्—ड। टाप्। धनुर्गुणेन, मौर्व्या। वाचः+पतिः म०१॥ वाण्याः स्वामी। नि+यच्छतु। नियमतु, नियमे रक्षतु। अन्यत् सुगमं व्याख्यातं च।

४—उप+हूतः। उप+ह्वेञ् आह्वाने—क्त। समीपं कृताह्वानः, कृत-

ताम्) समीप बुलावे। (श्रुतेन) वेद विज्ञान से (संगमेमहि) हम मिले रहें। (श्रुतेन) वेद विज्ञान से (मा विराधिषि) मैं अलग न हो जाऊं ॥ ४ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारी लोग परमेश्वर का आवाहन करके निरन्तर अभ्यास और सत्कार से वेदाध्ययन करें जिस से प्रीति पूर्वक आचार्य की पढ़ायी ब्रह्मविद्या उन के हृदय में स्थिर होकर यथावत् उपयोगी होवे ॥

इस सूक्त का यह भी तात्पर्य है कि जिज्ञासु ब्रह्मचारी अपने शिक्षक आचार्यों का सदा आदर सत्कार करके यत्न पूर्वक विद्याभ्यास करें जिस से वह शास्त्र उन के हृदय में दृढ़भूमि होवे ॥ ४ ॥



सूक्तम् २ ॥

१—४ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, २, ४ । अनुष्टुप्, ८×४ । ३ त्रिपदा त्रिष्टुप्, ११×३ अक्षराणि ॥

बुद्धिवृद्ध्युपदेशः— बुद्धि की वृद्धि के लिये उपदेश ।

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं भूरिधायसम् ।
विद्मो ष्वस्य मातरं पृथिवीं भूरिवर्पसम् ॥ १ ॥

विद्म । शरस्य । पितरम् । पर्जन्यम् । भूरि-धायसम् ।
विद्मो इति । सु । अस्य । मातरम् । पृथिवीम् । भूरि-वर्पसम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(शरस्य) शत्रु नाशक [बाणधारी] शूर पुरुष के (पितरम्) रक्षक, पिता, (पर्जन्यम्) सींचने वाले मेघ रूप (भूरिधायसम्) बहुत प्रकार

स्मरणः। वाचः+पतिः । म० १ ॥ वाण्याः पालयिता, परमेश्वरः। उप । समीपे। आदरेण। ह्वयताम् । ह्वञ्—लोट्। आह्वयतु स्मरतु। श्रुतेन । मं० २। अधीतेन, शास्त्रविज्ञानेन। सम्+गमेमहि । सम् पूर्वकात् गम्लृ संगतौ-आशीर्लिङि। समो गम्यृच्छिप्रच्छि०। पा० १। ३। २६। इति आत्मनेपदम् व्यवहिताश्च। पा० १। ४। ८२ इति समः क्रियापदेन संबन्धः। संगच्छेमहि, संगता भूयास्म। मा+वि+राधिषि । राध संसिद्धौ। विराध वियोगे-लुङि, आत्मनेपदमेकवचनम् इडागमश्च। माङि लुङ्। पा० ३। ३। १७५। इति लुङ्। न माङ्योगे। पा० ६। ४। ७४। इति माङि अटोऽभावः। अहं वियुक्तो मा भूवम्।

१—विद्म। विद ज्ञाने-लट्। अदादित्वात् शपो लुक्। द्व्यचोऽतस्तिङः।

से पोषण करनेवाले [परमेश्वर] को (विद्म) हम जानते हैं। (अस्य) इस शूर की माननीया माता, (पृथिवीम्) विख्यात वा विस्तीर्ण पृथिवीरूप (भूरिवर्पसम्) अनेक वस्तुओं से युक्त [ईश्वर] को (सु) भली भांति (विद्म उ) हम जानते ही हैं ॥१॥

भावार्थ—जैसे मेघ, जल की वर्षा करके और पृथ्वी, अन्न आदि उत्पन्न करके प्राणियों का बड़ा उपकार करती है, वैसे ही वह जगदीश्वर परब्रह्म सब मेघ, पृथिवी आदि लोक लोकान्तरों का धारण और पोषण नियम पूर्वक करता है। जितेन्द्रिय शूरवीर विद्वान् पुरुष उस परब्रह्म को अपने पिता के समान रक्षक, और माता के समान माननीय और मान कर्त्ता जान कर (भूरिधायाः)

पा० ६। १। १३५। इति सांहितिको दीर्घः। वयं जानीमः। **शरस्य**। शृणाति शत्रून्। ऋदोरप्। पा०३। ३। ५७। इति शॄ हिंसे-अप्। शत्रुनाशकस्य बाणस्य। अथवा, शरो बाणः, तदस्यास्ति। अर्श आदिभ्योऽच्। पा० ५। २। १२७। इति मत्वर्थे अच्। बाणवतः शूरपुरुषस्य। **पितरम्**। नप्तृनेष्टृत्वष्टृ०। उ० २। ९५। इति पा रक्षणे-तृन् वा तृच् निपातनात् साधुः। रक्षकम्। जनकम्। **पर्जन्यम्**। पर्षति सिञ्चति वृष्टिं करोतीति पर्जन्यः। पर्जन्यः। उ० ३। १०३। इति पृषु सेचने-अन्य प्रत्ययः, षस्य जकारः। पर्जन्यस्तृपेराद्यन्तविपरीतस्य तर्पयिता जन्यः परोजेता वा जनयिता वा प्रार्जयिता वा रसानाम्-निरु० १०।१०। सेचकम्। मेघम्। मेघवद् उपकर्त्तारम्। **भूरि-धायसम्**। वहिहाधाञ्भ्यश्छन्दसि। उ० ४। २२१। इति भूरि+डुधाञ् धारणपोषणयोः दाने च-असुन्, स च णित्। आतो युक् चिण्कृतोः। पा०। ७। ३। ३३। इति युक्। बहुपदार्थधारयितारं सृष्टेः पोषयितारं परमेश्वरम्। **विद्मो इति**। विद्म-उ। वयं जानीम एव। **सु**। सुष्ठु। **अस्य**। शरस्य। **मातरम्**। मान्यते पूज्यते सा माता। नप्तृनेष्टृत्वष्टृ। उ० २। ९५। इति मान पूजायाम्-तृन् वा तृच् निपातः। माननीयाम्। जननीम्। **पृथिवीम्**। १।। ३०। ३ प्रथिम्रदिभ्रस्जां सम्प्रसारणं सलोपश्च। उ० १। २८। इति प्रथ प्रख्याने-कु। वोतो गुणवचनात्। पा० ४। १। ४४। इति। पृथु—ङीष्। विस्तीर्णा प्रख्याता वा पृथिवी। अथवा, प्रथते विस्तीर्णा भवतीति पृथिवी। प्रथेः षिवन्षवन्ष्वनः संप्रसारणं च। उ० १। १५०। इति प्रथ ख्यातौ विस्तारे—षिवन्, संप्रसारणं च। षिद्गौरादिभ्यश्च। पा० ४। १। ४१। इति ङीष्। भूमिम्। भूमिवद् गुणवन्तम्। **भूरि-वर्पसम्**। व्रियते स्वीक्रियते तत्। वर्पो रूपम्-निघ० ३। ७। वृङ्शीङ्भ्यां रूप-

अनेक प्रकार से पोषण करने वाला और (भूरिवर्पाः) अनेक वस्तुओं से युक्त होकर परोपकार में सदा प्रसन्न रहे ॥ १ ॥

ज्याके परि णो नमाश्मानं तुन्वं कृधि ।
वीडुर्वरीयोऽरातीरप द्वेष्यांस्या कृधि ॥ २ ॥

ज्याके । परि । नः । नम । अश्मानम् । तन्वम् । कृधि ।
वीडुः । वरीयः । अरातीः । अप । द्वेषांसि । आ । कृधि ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे इन्द्र] (ज्याके) जय के लिये (नः) हम को (परि) सर्वथा (नम) तू झुका, (तन्वम्) [हमारे] शरीरको (अश्मानम्) पत्थर सा [सुदृढ़] (कृधि) बनादे । (वीडुः) तू दृढ़ होकर (अरातीः) विरोधों और (द्वेषांसि) द्वेषों को (अप = अपहृत्य) हटाकर (वरीयः) बहुत दूर (आकृधि) करदे ॥ २ ॥
अथवा, (ज्याके) दोनों जय के साधनों [मेघ और भूमि] को (नःपरि) हमारी ओर (नम) तू झुका । यह अर्थ प्रयुक्त करो ।

भावार्थ—परमेश्वर में पूर्ण विश्वास करके मनुष्य आत्मबल और शरीर बल प्राप्त करें और सब विरोधों को मिटावें ।

स्वाङ्गयोः पुट् च । उ० ४ । २०१ । इति वृङ् स्वीकरणे—असुन्, पुट् आगमः । भूरीणि बहूनि रूपाणि वस्तूनि यस्मिन् स भूरिवर्पाः । अनेकवस्तुयुक्तं परमेश्वरम् ॥

२—ज्याके । ज्या जयतेर्वा जिनातेर्वा प्रजावयतीषूनिति वा–निरु० ६ । १७ ॥ खजेराकः । उ० ४ । १३ । इति जि जये–आकप्रत्ययः । निपात्यते च । सप्तम्यधिकरणे च । पा० २ । ३ । ३६ । अत्र । निमित्तात् कर्मसंयोगे सप्तमी वक्तव्या । वार्तिकम् । इति निमित्ते सप्तमी । जयनिमित्ते=जयार्थम् । यद्वा १ । १ । ३ । ज्या–स्वार्थे कन्, टाप् च । जयसाधने [उभे पर्जन्यपृथिव्यौ]—द्वियां द्वितीयाद्विवचनम् । **परि** । परितः सर्वतः । **नः** । अस्मान् । **नम** । नमय, प्रह्वीकुरु । **अश्मानम्** । अशि शकिभ्यां छन्दसि । उ० ४ । १४७ । इति अशू व्याप्तौ वा अश भोजने—मनिन् । अश्मा मेघनाम–निघ० १ । १० । पाषाणं, प्रस्तरवद् दृढम् । **तन्वम्** । १ । १ । १ छंदसि यण् । उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य । पा० ८ । २ । ४ । इति स्वरितः । तनूम्, शरीरम् । **कृधि** । डुकृञ् करणे—लोट् । कुरु । **वीडुः** । भृमृशीङ्० । उ० १ । ७ । इति वील संस्तम्भे—उ, लस्य डः । वीलु-

सायणाचार्य ने अर्थ किया है कि (ज्याके) हे कुत्सित चिल्ला ! (नः) हम को (परि) छोड़ कर (नम) झुक । हमारी समझ में वह असंगत है, संपूर्ण सूक्त का देवता इन्द्र है ॥

वृक्षं यद्गावः परिषस्वजाना अनुस्फुरं शरमर्चन्त्यृभुम् ।
शरुमस्मद् यावय दिद्युमिन्द्र ॥ ३ ॥

वृक्षम् । यत् । गावः । परि-सस्वजानाः । अनु-स्फुरम् । शरम् । अर्चन्ति । ऋभुम् । शरुम् । अस्मत् । यवय । दिद्युम् । इन्द्र ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यत्) जब (वृक्षम्) धनुष से (परि-सस्वजानाः) लिपटी हुयी (गावः) चिल्ले की डोरियां (अनुस्फुरम्) फुरती करते हुये (ऋभुम्) विस्तीर्ण ज्योति वाले, अथवा सत्य से प्रकाशमान वा वर्त्तमान, बड़े बुद्धिमान् (शरम्) बाणधारी शूरपुरुष की (अर्चन्ति) स्तुति करें । [तब] (इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्यवाले जगदीश्वर ! [वा. हे वायु !] (शरुम्) बाण और (दिद्युम्) वज्र को (अस्मत्) हम से (यावय) तू अलग रख ॥ ३ ॥

बलनाम निघ० २ । ९ । वीलयतिश्च व्रीलयतिश्च संस्तम्भकर्माणौ । निरु० ५ । १६ । वीड्वी दृढा । **वरीयः** । प्रियस्थिरेत्यादिना । पा० ६ । ४ । १५७ । इति उरु—ईयसुन्, वरादेशः । क्रियाविशेषणम् । उरुतरं दूरतरम । **अरातीः** । न राति ददाति सुखं स अरातिः शत्रुः । क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् । पा० ३ । ३ । १७४ । इति रा दाने-क्तिच्,नञ्समासः । सुपां सुलुक्पूर्वसवर्ण० । पा० ७ । १ । ३९ । इति पूर्वसवर्णः । अरातीन् शत्रून् । यद्वा क्तिन् प्रत्ययान्ते, शत्रुभावान्, विरोधान् । **अप** । अपहत्य । **द्वेषांसि** । द्विष अप्रीतौ भावे-असुन् । द्वेषान् **आ** । ईषदर्थे ।

३—**वृक्षम्** । स्नुव्रश्चिकृत्यृषिभ्यः कित् । उ० ३ । ६६ । इति ओ व्रश्चू छेदने–क्स प्रत्ययः । वृक्षे वृक्षे धनुषि धनुषि वृक्षो व्रश्चनात् — निरु० २ । ६ । धनुर्दण्डम् । धनुः । **यत्** । यदा । **गावः** । गमेर्डोः । उ० २ । ६७ । इति गम्लृ गतौ-डो । ज्यापि गौरुच्यते गव्या चेत् ताद्धितमथचेन्न गव्या गमयतीषूनिति-निरु० २ । ५ । ज्याः, मौर्व्यः । **परि-सस्वजानाः** । ष्वञ्ज परिष्वङ्गे, लिटः कानच्, नकारलोपे द्विर्वचनम् । आश्लिष्य धनुष्कोटौ आरोपिताः । **अनु-स्फुरम्** ।

भावार्थ—जब दोनों ओर से (आध्यात्मिक वा आधिभौतिक) घोर संग्राम होता हो, बुद्धिमान् चतुर सेनापति ऐसा साहस करे कि सब योद्धा लोग उस की बड़ाई करें, और वह परमेश्वर का सहारा लेकर और अपने प्राण वायु को साधकर शत्रुओं को निरुत्साह करदे, और जय प्राप्त करके आनन्द भोगे ॥३॥

निरुक्त अध्याय २, खंड ६ और ५ के अनुसार (वृक्ष) का अर्थ [धनुष] इस लिये है कि उस से शत्रु छेदा जाता है और (गौ) का नाम चिल्ला इसलिये है कि उस से बाणों को चलाते हैं ॥

यथा द्यां च पृथिवीं चान्तस्तिष्ठति तेजनम् ।
एवा रोगं चास्रावं चान्तस्तिष्ठतु मुञ्ज इत् ॥ ४ ॥

यथा । द्याम् । च । पृथिवीम् । च । अन्तः । तिष्ठति । तेजनम् ।
एव । रोगम् । च । आ-स्रावम् । च । अन्तः । तिष्ठतु । मुञ्जः । इत् ॥४॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (तेजनम्) प्रकाश (द्यां च) सूर्य लोक (च) और

स्फुर संचलने-घञर्थे कविधानम् । प्रतिस्फुरणम्, स्फूर्तियुक्तम् । शरम् । मं० १ । शत्रुछेदकम् । बाणधारकं शूरम् । अर्चन्ति । पूजयन्ति; स्तुवन्ति । ऋभुम् । ऋ गतौ—क्विप् । ऋकारः=उरु वा ऋतम् । ऋ + भा दीप्तौ वा भू सत्तायाम्-डु । यद्वा, उरुशब्दस्य ऋतशब्दस्य वा ऋकार आदेशः । ऋभव उरु भान्तीति वर्त्तेन भान्तीति घर्त्तेन भवन्तीति वा-निरु० ११ । १५ । ऋभुः=मेधावी-निघ० ३ । १५ । उरुभासनम्, ऋतेन सत्येन भान्तं भवन्तं वा । मेधाविनम् । शरुम् । शृस्वृस्निहि० उ० १ । १० । इति शॄ हिंसायाम्-उ प्रत्ययः । छेदकं बाणम् । अस्मत् । अस्मत्तः । यवय । यु मिश्रणामिश्रणयोः-णिच्-लोट् । पृथक्कुरु, दिद्युम् । द्युतिगमिजुहोतां द्वे च । वार्त्तिकम् । पा० ३ । २ । १७८ । इति द्युत दीप्तौ-क्विप् । द्योतते उज्ज्वलत्वात् । अथवा दो अवखण्डने-क्विप् । द्यति खण्डयति शत्रून् । पृषोदरादिः । तलोपश्छान्दसः । दिद्युत्, वज्रः, निघ० २ । २० । वज्रम् । इन्द्र । ऋज्रेन्द्राग्रवज्र० । उ० २ । २८ । इति इदि परमैश्वर्ये—रन् । ञ्नित्यादिर्नित्यम् । पा० ६ । १ । १९७ । इति नित्त्वात् आद्युदात्तत्वे प्राप्ते आमन्त्रितत्वात् सर्वानुदात्तत्वम् । इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा । पा० ५ । २ । ९३ । वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः-निरु० । ७ । ५ । हे परमैश्वर्यवन्, वायो, हे जीव ।

४—यथा । येन प्रकारेण । द्याम् । गमेर्डोः । उ० २ । ६७ । इति बाहु-

(पृथिवीम) पृथिवी लोक के (अन्तः) बीच में (तिष्ठति) रहता है। (एव) वैसे ही (मुञ्जः) शोधने वाला परमेश्वर [वा औषध] (इत्) भी (रोगं च) शरीर भंग (च) और (आस्रावम्) रुधिर के बहाव वा घाव के (अन्तः) बीच में (तिष्ठतु) स्थित होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपने बाहिरी और भीतरी क्लेशों में (मुञ्ज) हृदय संशोधक परमेश्वर का स्मरण रखते हैं वे दुःखों से पार होकर तेजस्वी होते हैं। अथवा जैसे सद्वैद्य (मुञ्ज) संशोधक औषधि से बाहिरी और भीतरी रोग का प्रतीकार करता है, वैसे ही आचार्य विद्या प्रकाश से ब्रह्मचारी के अज्ञान का नाश करता है॥ ४॥

सायण भाष्य में (तेजनम्) नपुंसक लिङ्ग को [तेजनः] पुंलिंग मानकर [वेणुः] अर्थात् बांस अर्थ किया है वह असंगत है॥

सूक्तम् ३ ॥

१-९ ॥ पर्जन्यादयो देवताः । १-५ पंक्तिः ८×५, ६-९ अनुष्टुप् छन्दः, ८×४ अक्षराणि ॥

शान्तिकरणम्—शान्ति के लिये उपदेश।

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृष्ण्यम् । तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ १ ॥

लकात् द्युत दीप्तौ-डो प्रत्ययः । सूर्यलोकम् । **पृथिवीम्** । मं० २ । प्रख्यातां विस्तीर्णां वा भूमिम् । **अन्तः** । अम गतौ-अरन्, तुडागमः । अन्तरान्तरेण युक्ते पा० २।३।४ । इति छन्दसि मध्यशब्दस्य पर्यायवाचकत्वात् अन्तर् इति शब्देन सह द्वितीया । द्वयोर्मध्ये । **तिष्ठति** । वर्तते । **तेजनम्** । नपुंसकम् । तिज तीक्ष्णीकरणे-ल्युट् । तेजः प्रकाशः । **एव** । निपातस्य च । पा० ६।३। १३६ । इति छन्दसि दीर्घम् । एवम्, तथा । **रोगम्** । पद रुजविशस्पृशो घञ् । पा० ३।३।१६ । इति रुज भंगे हिंसे च-घञ् । रुजति शरीरम् । शरीरभंगम् । **आस्रावम्** । श्याऽऽद्व्यधास्रु० । पा० ३ । १ । १४१ । इति आङ्+स्रु स्रवणे-ण प्रत्ययः । अचो ञ्णिति । पा० ७।२।११५ । इति वृद्धिः । आस्रवम्, रुधिरादिस्रवणम् । आघातम् । **मुञ्जः** । मुञ्च्यते मृज्यते अनेन । मुजि मार्जने शोधने-अच् । परमेश्वरः संशोधकः पदार्थो वा । **इत्** । एव । अपि ॥

विद्म। शरस्यं। पितरम्। पर्जन्यम्। शत-वृष्ण्यम। तेन। ते। तन्वे शम्। करम्। पृथिव्याम्। ते। नि-सेचनम। बहिः। ते। अस्तु। वाल्। इति ॥१॥

भाषार्थ—(शरस्य) शत्रु नाशक [वा बाण धारी] शूर के (पितरम) रक्षक, पिता, (पर्जन्यम्) सींचने वाले मेघ रूप (शतवृष्ण्यम्) सैकड़ों सामर्थ्य वाले [परमेश्वर] को (विद्म) हम जानते हैं। (तेन) उस [ज्ञान]से (ते)तेरे (तन्वे) शरीर के लिये (शम्) नीरोगता (करम्) मैं करूं, और (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (ते) तेरा (निसेचनम्) बहुत सेचन [वृद्धि] होवे, और (ते) तेरा (वाल्) वैरी (बहिः) बाहिर (अस्तु) होवे, (इति) बस यही ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे मेघ अन्न आदि उत्पन्न करता है वैसे ही मेघ के भी मेघ अनन्त शक्तिवाले परमेश्वर को साक्षात् करके जितेन्द्रिय पुरुष (शतवृष्ण्य) सैकड़ों सामर्थ्य वाला होकर अपने शत्रुओं का नाश करता और आत्मबल बढ़ा कर संसार में वृद्धि करता है॥ १॥

इस मन्त्र के पूर्वार्ध के लिये १। २। १। देखो।

१-विद्म, शरस्य, पितरम्, पर्जन्यम्। इति पदानि व्याख्यातानि १। २। १। शतवृष्ण्यम्। वर्षतीति वृषा। कनिन् युवृषितक्षीत्यादिना। उ० १। १५६। इति वृषु सेचने-कनिन्। भवे छन्दसि। पा० ४। ४। ११०। इति वृषन्-यत्। वृष्णि भवं वृष्ण्यं वीर्यं सामर्थ्यम्। बहुसामर्थ्योपेतं परमेश्वरम्। तन्वे। १। १। १। तत्रवत् सिद्धिः स्वरितश्च। शरीराय। शम्। अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते। पा० ३। २। ७५। इति शमु उपशमने-विच्। शान्तिम्,स्वास्थ्यम्। सुखम्-निघ० ३।६। करम्। डुकृञ् करणे-लेट्। अहं कुर्याम्। पृथिव्याम्। १। २। २। प्रख्यातायां भूमौ। ते। तव। नि-सेचनम्। नि+षिच सेचने-भावे ल्युट्। आर्द्रीकरणं, वर्धनम, वृद्धिः। बहिः। वह प्रापणे—इसुन्। बाह्यम् बहिर्देशे। वाल्। वल वधे-क्विप् वलति हिनस्तीति वाल् वलः,असुरः,दैत्यः, वैरी। इति। इण् गतौ-क्तिच्। पर्य्याप्तम् अलम् (इति सर्वकम्) मं० ६-६॥

विद्मा शरस्य पितरं मित्रं शतवृष्ण्यम् ।
तेना ते तन्वे ३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं
बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ २ ॥

विद्म । शरस्य । पितरम् । मित्रम् । शत-वृष्ण्यम् । तेन । ते । तन्वे । शम् । करम् । पृथिव्याम् । ते । नि-सेचनम् । बहिः । ते । अस्तु । बाल् । इति ॥ २ ॥

भाषार्थ—(शरस्य) शत्रुनाशक शूर [वा बाणधारी] के (पितरम्) रक्षक पिता, (मित्रम्) सब के चलाने वाले [वा स्नेहवान्] वायु रूप (शतवृष्ण्यम्) सैंकड़ों सामर्थ्यवाले [परमेश्वर] का (विद्म) हम जानते हैं। तेन उस [ज्ञान] से·····॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे वायु सब प्राणियों के जीवन का आधार है वैसे ही परमेश्वर वायु का भी प्राण है इत्यादि ॥ २ ॥

सायण भाष्य में (मित्र) शब्द का अर्थ दिन का अभिमानी देवता है ॥

विद्मा शरस्य पितरं वरुणं शतवृष्ण्यम् ।
तेना ते तन्वे ३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं
बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ ३ ॥

विद्म । शरस्य । पितरम् । वरुणम् । शत-वृष्ण्यम् । तेन । ते । तन्वे । शम् । करम् । पृथिव्याम् । ते । नि-सेचनम् । बहिः । ते । अस्तु । बाल् । इति ॥ ३ ॥

२—मित्रम् । अमिचिमिशसिभ्यः क्त्रः । उ० ४ । १६४ । इति डुमिञ् । प्रक्षेपणे—क्त्र । मिनोति प्रेरयति वृष्टिं अन्यपदार्थान् चेति मित्रः, यद्वा मिद-स्नेहे-त्र । सर्वप्रेरकः । स्नेहवान् । वायुः । वायुवत् उपकारकम् । मित्रशब्दो भगवता यास्केन मध्यस्थानदेवतासु पठितः—निरु० १० । २१-२२ । अहरभिमानी देवो मित्रः—इति सायणः । वायुम् । दिनकालम् । शेषं पूर्ववद् योज्यम्, मन्त्रे १ ॥

भाषार्थ—(शरस्य) शत्रु नाशक [वा बाणधारी] शूर के (पितरम्) रक्षक, पिता, (वरुणम्) लोकों के ढकनेवाले आकाश रूप विस्तीर्ण (शतवृष्ण्यम्) सैकड़ों सामर्थ्य वाले [परमेश्वर] को (विद्म) हम जानते हैं। (तेन) उस [ज्ञान] से ---॥ ३॥

भावार्थ---आकाश में सूर्य भूमि आदि लोक स्थित हैं और परमेश्वर के आधीन आकाश भी है--इत्यादि॥ ३॥

(वरुण) मध्यस्थान देवतानिरु० १०। ३। इस से वृष्टिजल का अर्थ प्रतीत होता है, परन्तु (पर्जन्य) शब्द मं १ में आ चुका है, इस से यहां पर वृष्टि का आधार और सब का ढकने वाला आकाश अर्थ है। सायण भाष्य में रात्रि का अभिमानी देवता अर्थ है॥

विद्मा शरस्य पितरं चन्द्रं शतवृष्ण्यम्
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं
बहिष्टे अस्तु बालिति॥ ४॥

विद्म। शरस्य। पितरम्। चन्द्रम्। शत-वृष्ण्यम्। तेन। ते। तन्वे। शम्। करम्। पृथिव्याम्। ते। नि-सेचनम्। बहिः। ते। अस्तु। बाल्। इति॥ ४॥

भाषार्थ—(शरस्य) शत्रुनाशक (वा बाणधारी) शूर के (पितरम्) रक्षक, पिता (चन्द्रम्) आनन्द देने वाले, चन्द्रमा रूप उपकारी (शतवृष्ण्यम्) सैकड़ों सामर्थ्य वाले [परमेश्वर को] (विद्म) हम जानते हैं। (तेन) उस [ज्ञान] से ......॥ ४॥

३—वरुणम्। कृवृदारिभ्य उनन्। उ० ३। ५३। इति वृञ् वरणे-उनन्। आवृणोति लोकान्। मध्यस्थानदेवतासु—वरुणो वृणोतीति सतः—निरु० १०। ३। लोकानामावरकम्, अन्तरिक्षम् आकाशं वा। वरुणो रात्र्यभिमानी देवः-इति सायणः। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्, मं० १।

४—चन्द्रम्। स्फायितञ्चीत्यादिना, उ० २। १३। इति चदि आह्लादने-रक्। चन्द्रश्चन्दतेः कान्तिकर्मणः निरु० ११। ५। आह्लादकं देवं, हिमांशुम्।

भावार्थ—(चन्द्र) आनन्द देनेवाला अर्थात् अपनी किरणों से अन्न आदि औषधों को पुष्ट करके प्राणियों को बल देता है। उस चन्द्रमा का भी आह्लादक वह परमेश्वर है, ऐसा ही मनुष्य को आनन्द देने वाला होना चाहिये ॥ ४ ॥

विद्मा शरस्य पितरं सूर्यं शतवृष्ण्यम् ।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं
बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ ५ ॥

विद्म । शरस्य । पितरम् । सूर्यम् । शत-वृष्ण्यम् । तेन । ते । तन्वे । शम् । करम् । पृथिव्याम् । ते । नि-सेचनम् । बहिः । ते । अस्तु । बाल् । इति ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(शरस्य) शत्रुनाशक [वा बाणधारी] शूर के (पितरम्) रक्षक, पिता (सूर्यम्) चलनेवाले वा चलानेवाले सूर्य समान [उपकारी] (शतवृष्ण्यम्) सैकड़ों सामर्थ्य वाले [परमेश्वर] को (विद्म) हम जानते हैं। (तेन) उस [ज्ञान] से (ते) तेरे (तन्वे) शरीर के लिये (शम्) नीरोगता (करम्) मैं करूं और (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (ते) तेरा (निसेचनम्) बहुत सेचन [वृद्धि] होवे और (ते) तेरा (बाल्) वैरी (बहिः) बाहिर (अस्तु) होवे, (इति) बस यही ॥ ५ ॥

भावार्थ—(सूर्य) आकाश में वायु से चलता है और लोकों को चलाता और वृष्टि आदि उपकार करता और बड़ा तेजस्वी है। वह परब्रह्म उस सूर्य का भी सूर्य है। उसके उपकारों को जान कर तेजस्वी मनुष्य परस्पर उन्नति करते हैं ॥ ५ ॥

इन्दुम् । तद्वत् उपकारकम् । अन्यत्—यथा मं० १ ।

५—सूर्यम् । राजसूयसूर्येत्यादिना । पा० ३ । १ । ११४ । इति सृ सरणे क्यप् । निपातनात् ऋकारस्य उत्वम् । सरत्याकाशे स सूर्यः । यद्वा, षू प्रेरणे, तुदादिः—क्यप्, रुट् आगमः । सुवति प्रेरयति लोकान् कर्मणि स सूर्यः । यद्वा सु + ईर गतौ कर्मणि क्यपि निपात्यते । वायुना । सुष्ठु ईर्यते प्रेर्यते स सूर्यः । सूर्यः सर्त्तेर्वा सुवतेर्वा स्वीर्य्यतेर्वा । इति यास्कः—निरु० १२ । १४ । आदित्यम्, सूर्यवत् उपकारकम् । शेषम्—व्याख्यातम् मं० १ ।

यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद् वस्तावधि संश्रुतम् ।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥ ६ ॥

यत् । आन्त्रेषु । गवीन्योः । यत् । वस्तौ । अधि । सम्—श्रुतम् ।
एव । ते । मूत्रम् । मुच्यताम् । बहिः । बाल् । इति । सर्वकम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यत्) जैसे (यत्) कि (आन्त्रेषु) आंतों में और (गवीन्योः) दोनों पार्श्वस्थ नाड़ियों में और (वस्तौ अधि) मूत्राशय के भीतर (संश्रुतम्) एकत्र हुआ [मूत्र छूटता है]। (एव) वैसे ही (ते मूत्रम्) तेरा मूत्र रूप (बाल्) वैरी (बहिः) बाहिर (मुच्यताम्) निकाल दिया जावे (इति सर्वकम्) यही बस है ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे शरीर में रुका हुआ सारहीन मल विशेष, मूत्र अर्थात् प्रस्राव क्लेश देता है और उस के निकाल देने से चैन मिलता है वैसे ही मनुष्य आत्मिक, शारीरिक और सामाजिक शत्रुओं के निकाल देने से सुख पाता है ॥ ६ ॥

टिप्पणी—सायण भाष्य में (संश्रुतम्) के स्थान में (संश्रितम्) मानकर "समवस्थितम्" [ठहरा हुआ] अर्थ किया है ॥

६—**यत्** । यथा । **आन्त्रेषु** । अमत्यनेन. अम गतौ—क्त, । अति बन्धने — करणे ष्ट्रन् । उपधादीर्घः । अन्त्रेषु. उदरनाड़ीविशेषेषु । **गवीन्योः** । द्रुदक्षिभ्यामिनन् । उ० २ । ५० । इति गुङ् ध्वनौ-इनन् । ङीष् । छान्दसो दीर्घः । पार्श्वद्वयस्थे नाड्यौ गवीन्यौ इत्युच्यते, तयोः—इति सायणः । **वस्तौ** । वसेस्तिः । उ० ४ । १८० । इति वस आच्छादने—ति प्रत्ययः । वसति मूत्रादिकम् । मूत्राशये । **अधि** । उपरि, मध्ये । **सम्-श्रुतम्** । श्रु श्रवणे गतौ च-क्त । सम्यक् श्रुतम् । संगतम् । **एव** । एवम्, तथा । **मूत्रम्** । मूत्र प्रस्रावे-घञ् । यद्वा, सिविमुच्योष्टेरूच । उ० ४ । १६३ । इति मुच त्यागे—ष्ट्रन्. ऊत्वं च । मुच्यते त्यज्यते इति । प्रस्रावः, मेहनम् । सारहीनो मलद्रवः । **मुच्यताम्** । मुच—कर्मणि लोट् । त्यज्यताम्, निर्गच्छतु । **सर्वकम्** । अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः । पा० ५ । ३ । ७१ । इति अकच् । सर्वम् । अन्यद् व्याख्यातं म० १ ॥

प्र ते॑ भिनद्मि॒ मेह॑नं॒ वर्त्रं॑ वेश॒न्त्या इ॑व ।
ए॒वा ते॒ मूत्रं॑ मुच्यतां ब॒हिर्बालि॒ति॑ स॒र्व॒कम् ॥ ७ ॥

प्र । ते॒ । भि॒नद्मि॒ । मेह॑नम् । वर्त्र॑म् । वे॒श॒न्त्याः॒—इ॑व ।
ए॒व । ते॒ । मूत्र॑म् । मु॒च्य॒ता॒म् । ब॒हिः । बाल् । इति॑ । स॒र्व॒कम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (मेहनम्) मूत्र द्वार को (प्रभिनद्मि) मैं खोले देता हूं, (इव) जैसे (वेशन्त्याः) झील का पानी (वर्त्रम्) बन्ध को [खोल देता है]। (एव), वैसे ही········· म. ६ ॥ ७ ॥

भावार्थ—जैसे सद्वैद्य लोह शलाका से रोगी के रुके हुये मूत्र को झील के पानी के समान खोलकर निकाल देता है वैसे ही मनुष्य अपने शत्रु को निकाल देवे ॥ ७ ॥

विषि॑तं ते वस्ति॒बि॒लं स॑मु॒द्रस्यो॑द॒धेरि॑व ।
ए॒वा ते॒ मूत्रं॑ मुच्यतां ब॒हिर्बालि॒ति॑ स॒र्व॒कम् ॥ ८ ॥

वि-सि॑तम् । ते॒ । व॒स्ति॒-बि॒लम् । स॒मु॒द्रस्य॑ । उ॒द॒धेः-इ॑व ।
ए॒व । ते॒ । मूत्र॑म् । मु॒च्य॒ता॒म् । ब॒हिः । बाल् । इति॑ । स॒र्व॒कम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरा (वस्तिबिलम्) मूत्र मार्ग (विषितम्) खोल दिया

प्र+भिनद्मि । भिदिर् विदारणे—लट् । व्यवहिताश्च । पा० १ । ४ । ८२ । इति उपसर्गस्य व्यवधानम् । विवृणोमि, विवृतं करोमि । मेहनम् । मिह सेचने- करणे ल्युट् । मेहति सिञ्चति मूत्रम् । मूत्रमार्गम् । वर्त्रम् । सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् । उ० ४ । १५६ । वृतु वर्तने-ष्ट्रन् । बन्धम् । वेशन्त्याः । जॄविशिभ्यां झच् । उ० ३ । १२६ । इति विश प्रवेशे –झच् । झोऽन्तः । पा० ७ । १ । ३ । इति झस्य अन्ता- देशः. वेशन्तः, जलाशयः । भवे छन्दसि । पा० ४ । ४ । ११० । इति यत् । वेशन्ते सरोवरे भवा आपः । अन्यत् पूर्ववत् म० ६ ।

८-वि-सितम् । वि+षो अन्तकर्मणि—क्त, यद्वा, षिञ् बन्धे—क्त । विमुक्तम् वस्ति-बिलम् । म० १ । वस्ति+बिल स्तृतौ-क । मूत्रस्य छिद्रं मार्गम् ।

गया है, (इव) जैसे (उदधेः) जल से भरे (समुद्रस्य) समुद्र का [मार्ग]। (एव) वैसे ही········। म. ६ ॥ ८ ॥

भावार्थ—मन्त्र ७ देखो ॥

यथेषुका परापतदवसृष्टाधि धन्वनः ।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥ ९ ॥

यथा । इषुका । परा-अपतत् । अव-सृष्टा । अधि । धन्वनः ।
एव । ते । मूत्रम् । मुच्यताम् । बहिः । बाल् । इति । सर्वकम् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (धन्वनः अधि) धनुष् से (अवसृष्टा) छूटा हुआ (इषुका) बाण (परा-अपतत्) शीघ्र चला गया हो। (एव) वैसे ही (ते) तेरा (मूत्रम्) मूत्र रूप (बाल्) वैरी (बहिः) बाहिर (मुच्यताम्) निकाल दिया जावे (इति सर्वकम्) यह बस है ॥ ९ ॥

भावार्थ—सरल है, ऊपर के मन्त्र देखो ॥ ९ ॥

समुद्रस्य । स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । इति सम्+उन्दी क्लेदने-रक् सम्यक् उनत्ति क्लेदयति जलेन जगत् इति समुद्रः । समुद्रः कस्मात् समुद्द्रवन्त्यस्मादापः समभिद्रवन्त्येनमापः सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि समुदको भवति समुनत्तीति वा-निरु० २ । १० । समुद्रः = अन्तरिक्षम्—निघ० १ । ३ । सागरस्य । **उदधेः** । कर्मण्यधिकरणे च । पा० ३ । ३ । ९३ । इति उद वा उदक + डुधाञ् धारणपोषणयोः- कि । उदकपूर्णस्य । अन्यत् पूर्ववत् म० ६ ॥

९—**इषुका** । इषुरीषतेर्गतिकर्मणो वधकर्मणो वा । निरु० ९ । १८ । इति ईष गतौ वधे—उ प्रत्ययः । स्वार्थे-कन्,टाप् । इषुः,बाणः । **परा-अपतत्** । पत गतौ-लङ् । शीघ्रं दूरे अगच्छत् । **अवसृष्टा** । सृज—विसर्गे—क्त । विमुक्ता । **अधि** । पञ्चम्यर्थानुवादी । **धन्वनः** । कनिन् युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः । उ० १ । १५६ । इति धन्व गतौ—कनिन् । धनुषः सकाशात्, चापात् । शेषं पूर्ववत् म० ६ ॥

सूक्तम् ॥ ४ ॥

१—४ । आपो देवताः १-३ गायत्री, ४ पङ्क्तिः, ८×५ अक्षराणि ॥

परस्परोपकारोपदेशः— परस्पर उपकार के लिये उपदेश ॥

अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम् ।
पृञ्चतीर्मधुना पयः ॥ १ ॥

अम्बयः । यन्ति । अध्व-भिः । जामयः । अध्वरि-यताम् ।
पृञ्चतीः । मधुना । पयः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अम्बयः) पाने योग्य मातायें और (जामयः) मिलकर भोजन करने हारी, बहिनें [वा कुलस्त्रियां] (मधुना) मधु के साथ (पयः) दूध को (पृञ्चतीः) मिलाती हुई (अध्वरीयताम्) हिंसा न करने हारे यजमानों के (अध्वभिः) सन्मार्गों से (यन्ति) चलती हैं ॥ १ ॥

१—**अम्बयः** । सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४।११८ । इति अम्ब गतौ-इन् । प्रापणीया मातरः । मातृभूता आपः । अम्बाशब्दवद् अम्बिशब्दो वेदे मातृवाची । यथा । अम्बितमे नदीतमे । ऋ० २ । ४१ । १६ । अम्बे अम्बिकेऽम्बालिके । य० ३४ । १८ । **यन्तिः** । इण् गतौ-लट् गच्छन्ति । **अध्वभिः** । अत्ति, गमनेन बलं नाशयति स अध्वा । अदेर्ध च । उ० ४ । ११६ । इति अद भक्षणे-क्वनिप्, पृषोदरादित्वात् दस्य धः । यद्वा । अत सातत्यगमने-क्वनिप्, तकारस्य धः । सन्मार्गैः । **जामयः** । वसिवपियजिराजि० । उ० ४ । १२५ जम भक्षणे-इञ् । जमन्ति, संगत्य भोजनं कुर्वन्ति ताः । कुलस्त्रियः । भगिन्यः । भगनीवत् सहायभूताः पुरुषाः । **अध्वरि-यताम्** । अध्वानं सत्पथं रातीति । अध्वन् + रा-दानग्रहणयोः—क । यद्वा । न ध्वरति कुटिलीकरोति हिनस्तीति वा । न + ध्वृ कुटिलीकरणे, हिंसने च—अच् । अध्वर इति यज्ञनाम ध्वरतिर्हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः—निरु० १ । ८ । सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । इति अध्वर + क्यच् । शतृ । क्यचि च । पा० ७ । ४ । ३३ । अकारस्य ईत्वम् । सन्मार्गदातारं कौटिल्यरहितं वा यज्ञमिच्छतां यजमानानाम् । **पृञ्चतीः** । पृची सम्पर्के-शतृ । ङीप् । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति पूर्वसवर्णदीर्घः । पृञ्चत्यः । संयोज-

भावार्थ—जो पुरुष, पुत्रों के लिये माताओं के समान, और भाइयों के लिये बहिनों के समान, हितकारी होते हैं वे सन्मार्गों से आप चलते और सब को चलाते हैं ॥ १ ॥

अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह ।
ता नो हिन्वन्त्वध्वरम् ॥ २ ॥

अमूः । याः । उप । सूर्ये । याभिः । वा । सूर्यः । सह ।
ताः । नः । हिन्वन्तु । अध्वरम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अमूः) वह (याः) जो [माता और बहिनें] (उप=उपेत्य) समीप होकर (सूर्ये) सूर्य के प्रकाश में रहती हैं, (वा) और (याभिः सह) जिन [माता और बहिनों] के साथ (सूर्यः) सूर्य का प्रकाश है। (ताः) वह (नः) हमारे (अध्वरम्) उत्तम मार्ग देने हारे वा हिंसा रहित कर्म को (हिन्वन्तु) सिद्ध करें वा बढ़ावें ॥ ३ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में दो बातों का वर्णन है एक यह कि किसी में उत्तम गुणों का होना, दूसरे यह कि उन उत्तम गुणों का फैलाना ॥ २ ॥

१-जो नररत्न माता और भगिनियों के समान परिश्रमी और उपकारी होकर सूर्य रूप विद्या के प्रकाश में विराजते हैं और जिनके सत्य अभ्यास से सूर्यवत् विद्या का प्रकाश संसार में फैलता है, वह तपस्वी पुण्यात्मा संसार में सुख की वृद्धि करते हैं ॥

यन्त्यः। **मधुना** । फलिपाटिनमिमनिजनां गक्पटिनाकिधतश्च । उ० १ । १८ । इति मन ज्ञाने-उ । धश्चान्तादेशः । रसभेदेन । मधुरगुणेन । **पयः** । सर्व-धातुभ्योऽसुन्। उ० ४ । १८९ । इति पीङ् पाने-असुन्। दुग्धम्, रसम् ॥

२-**अमूः**। अदस्, स्त्रियां जस्। ताः परिदृश्यमानाः। **याः**। अम्बयो जामयश्च, म० १ । यद्वा । आपः, म० ३ । **उप** । समीपे, उपेत्य। आधिपत्येन । आदरेण । **सूर्ये**। १।३।५। आदित्यलोके। सूर्यवद् ज्ञानप्रकाशे। सूर्यप्रकाशे। **याभिः**। अम्बि-जामिभिः। अद्भिः। **वा** । समुच्चये। विकल्पे। **सूर्यः** । १ । ३ । ५ । सवितृ-लोकः । तद्वद् ज्ञानप्रकाशः । सवितृप्रकाशः। **सह** । षह क्षमायाम्-अच्। साहित्ये।

२—जो (अमूः) इत्यादि स्त्री लिंग शब्दों का संबन्ध मन्त्र ३ के (आपः) शब्द से माना जावे तौ यह भावार्थ है। पहिले जल मूर्त्तिमान पदार्थों से किरणों द्वारा सूर्य मंडल में [जहां तक सूर्य का प्रकाश है] जाता है, फिर वही जल सूर्य की किरणों से छिन्न भिन्न होने के कारण दिव्य बनकर भूमि आदि पदार्थों के आकर्षण से बरसता और महा उपकारी होता है। इस जल के समान, विद्वान् पुरुष ब्रह्मचर्य आदि तप करके संसार का उपकार करते हैं ॥

अपो देवीरुप॑ह्वये यत्र गाव॑: पिब॑न्ति नः ।
सिन्धु॑भ्यः कर्त्वं॑ हविः ॥ ३ ॥

अपः । देवीः । उप॑ । ह्वये । यत्र॑ । गाव॑: । पिब॑न्ति । नः ।
सिन्धु॑भ्यः । कर्त्व॑म् । हविः ॥ ३

भावार्थ—(यत्र) जिस जल में से (गावः) सूर्य की किरणें [वा गौयें आदि जीव वा भूमि प्रदेश] (नः) हमारे लिये (हविः) देने वा लेने योग्य अन्न वा जल (कर्त्व॑म्) उत्पन्न करने को (सिन्धुभ्यः) बहने वाले समुद्रों से (पिबन्ति) पान करती हैं। (देवीः) उस उत्तम गुण वाले (अपः) जल को (उप) आदर से (ह्वये) मैं बुलाता हूं ॥ ३ ॥

नः । अस्माकम्। **हिन्वन्तु** । हिवि प्रीणने, लोट् । इदितो नुम्धातोः । पा० ७ । १ । ५८ । इति इदित्वात् नुम्। अथवा । हि वर्धने स्वादिः–लोट् । प्रीणयन्तु, साधयन्तु । वर्धयन्तु **अध्वरम्** । म० १ । सन्मार्गदातृ हिंसारहितं वा कर्म । यज्ञम् ।

३—**अपः** । आप्नोतेर्ह्रस्वश्च । उ० २।५८। इति आप्लृ व्याप्तौ–क्विप्। इति अप्। अप् शब्दो नित्यस्त्रीलिङ्गो बहुवचनान्तश्च । व्यापयित्रीः, जलधाराः। जलवत् उपकारिणः पुरुषान्। **देवीः** नन्दिग्रहिपचादिभ्यः० । पा० ३। १। १३४ । इति दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु—पचाद्यच् । ङीप् । दिव्याः, द्योतमानाः। **ह्वये** । अहमाह्वयामि। **यत्र** । यासु अप्सु । **गावः** १ । २ । ३ । धेनवः । उपलक्षणमेतत्। सर्वे जीवा इत्यर्थः । सूर्यकिरणः । भूलोकाः ।**पिबन्ति** । पाघ्रा० इत्यादिना । पा० ७ । ३ । ७८ । इति पा पाने–शपि पिबादेशः । पानं कुर्वन्ति । **नः** । अस्मदर्थम् । **सिन्धुभ्यः**

भावार्थ—जल को सूर्य की किरणें समुद्र आदि से खींचती हैं वह जल फिर बरस कर हमारे लिये अन्न आदिक पदार्थ उत्पन्न करके सुख देता है। अथवा गौ आदि सब प्राणी जल द्वारा उत्पन्न पदार्थों से सुखी होकर सब को सुखी करते हैं, वैसे ही हम को परस्पर सहायक और उपकारी होना चाहिये ॥ ३ ॥

अप्स्व१न्तरमृतमप्सु भेषजम् ।
अपामुत प्रशस्तिभिरश्वा भवथ वाजिनो
गावो भवथ वाजिनीः ॥ ४ ॥

अप्-सु । अन्तः । अमृतम् । अप्-सु । भेषजम् । अपाम् । उत । प्रशस्ति-भिः । अश्वाः । भवथ । वाजिनः । गावः । भवथ । वाजिनीः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अप्सु अन्तः) जल के बीच में (अमृतम्) रोग निवारक अमृत रस है और (अप्सु) जल में (भेषजम्) भय जीतने वाला औषध है। (उत) और (अपाम्) जल के (प्रशस्तिभिः) उत्तम गुणों से (अश्वाः) हे घोड़ो तुम, (वाजिनः) वेग वाले (भवथ) होते हो, (गावः) हे गौओ, तुम (वाजिनीः=०—न्यः) वेग वाली (भवथ) होती हो ॥ ४ ॥

स्यन्देः सम्प्रसारणं धश्च । उ० १ । ११ । इति स्यन्दू स्रवणे–उ प्रत्ययः, दस्य धः सम्प्रसारणं च । स्यन्दनशीलेभ्यः समुद्रेभ्यः सकाशात् । कर्तवे । डुकृञ् करणे–तुम् । छान्दसं रूपम् । कर्तुम् । हविः । अर्चिशुचिहुसृपिछादिछर्दिभ्य इसिः । उ० २ । १०८ इति । हु दानादानादनेषु—इसि । यद्वा । ह्वेञ् आह्वाने—इसि । हूयते दीयते गृह्यते वा तद् हविः । हव्यम् । अन्नम् आवाहनम् । उदकम्–निघ० १ । १२ ।

४—अप्सु । मन्त्र ३ । जलधारासु । अन्तः । मध्ये । अमृतम् । रोगनिवारकं रसम् । भेषजम् । भिषजो वैद्यस्येदम् । भिषज्–अण्, निपातनात् षत्वम् । यद्वा भेषं भयं रोगं जयतीति, जि जये—ड । औषधम् अपाम् । म० ३ । जलधाराणाम् । उत । अपि च । प्रशस्ति-भिः । प्र+शन्स स्तुतौ–क्तिन् । उत्तमगुणैः । अश्वाः । हे तुरगाः । भवथ । भू–लट् । यूयं वर्तध्वे ।

भावार्थ--जल से रोग निवारक और पुष्टि वर्धक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। जैसे जल से उत्पन्न हुये घास आदि से गौयें और घोड़े वलवान् होकर उपकारी होते हैं, इसी प्रकार सब मनुष्य अन्न आदि के सेवन से पुष्ट रह कर और ईश्वर की महिमा जान कर सदा परस्पर उपकारी बनें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ. १ । २३ । १६, है ॥

भगवान् मनु ने कहा है—अ. १ । ८ ॥

सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥ १ ॥

उस [परमात्मा] ने ध्यान करके अपने शरीर [प्रकृति] से अनेक प्रजाओं के उत्पन्न करने की इच्छा करते हुये पहिले (अपः) जल को ही उत्पन्न किया और उस में बीज को छोड़ दिया ॥

सूक्तम् ५ ॥

१—४ । आपो देवताः । गायत्री छन्दः ॥

वलप्राप्त्युपदेशः— वल की प्राप्ति के लिये उपदेश ॥

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन ।
महे रणाय चक्षसे ॥ १ ॥

आपः । हि । स्थ । मयः-भुवः । ताः । नः । ऊर्जे । दधातन । महे । रणाय । चक्षसे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे जलो ! [जल के समान उपकारी पुरुषों] (हि)

वाजिनः। अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५। इति वाज—भूम्नि मत्वर्थीय इनि प्रत्ययः । वेगवन्तः, वलयुक्ताः । वाजी वेजनवान्-निरू० २ । २८ । **गावः**। १।२।३ हे धेनवः । **अश्वाः । गावः**-सर्वे प्राणिनः इत्यर्थः । **वाजिनीः**। ऋन्नेभ्यो ङीप्। पा० ४ । १ । ५ । इति वाजिन्-ङीप् । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । वाजिन्यः, वेगवत्यः, वलवत्यः ॥

१-**आपः**। १ । ४ । ३ । हे व्यापयित्र्यः । जलधाराः । जलवत् उपकारिणः,

निश्चय करके (मयोभुवः) सुखकारक (स्थ) होते हो, (ताः) सो तुम (नः) हम को (ऊर्जे) पराक्रम वा अन्न के लिये, (महे) बड़े बड़े (रणाय) संग्राम वा रमण के लिये और (चक्षसे) [ईश्वर के] दर्शन के लिये (दधातन) पुष्ट करो ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे जल स्नान, पान, खेती, वाड़ी, कला, यन्त्र,आदि में उपकारी होता है, वैसे मनुष्यों को अन्न, बल, और विद्या की वृद्धि से परस्पर वृद्धि करनी चाहिये ॥ १ ॥

मन्त्र १—३ ऋग्वेद १० । ६ । १—३ ॥ यजुर्वेद ११ । ५०—५२, तथा ३६ । १४-१६ सामवेद उत्तरार्चिक प्रपा०६ अर्धप्र०२ सू० १० ॥

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः ।
उशतीरिव मातरः ॥ २ ॥

यः । वः । शिव-तमः । रसः । तस्य । भाजयत । इह । नः ।
उशतीः-इव । मातरः ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (यः) जो (वः) तुम्हारा (शिवतमः) अत्यन्त सुखकारी (रसः) रस है, (इह) यहां [संसार में] (नः) हम को (तस्य) उस

पुरुषाः । **हि** । निश्चयेन । **स्थ** । अस सत्तायां-लट् । भवथ । **मयः-भुवः** । मयः + भू सत्तायां-क्विप् । मिञ् हिंसायाम्-असुन् । मिनोति हिनस्ति दुःखम् । मयः सुखम्-निघ ३ । ६ । सुखस्य भावित्रयः कर्त्तारः । **ताः** । आपो यूयम् । **नः** । अस्मान् । **ऊर्जे** । क्विप् च । पा० ३ । २ । ७६ । इति ऊर्ज बलप्राणनयोः-क्विप् । बलार्थम् अन्नार्थं वा । **दधातन** । तप्तनप्तनथनाश्च । पा० ७ । १ । ४५ । इति डुधाञ् धारणपोषणयोः-लोट्, तकारस्य तनप् आदेशः । धत्त, पोषयत । **महे** । मह पूजायां-क्विप् । महते । विशालाय । **रणाय** । रण रवे—घञर्थे क । युद्धाय । यद्वा । रमतेर्भावे—ल्युट्, मकारलोपश्छान्दसः । रमणाय । क्रीडनाय । रणाय रमणीयाय-निरु० ६ । २७ । यत्रायं मन्त्रो भगवता यास्केन व्याख्यातः । **चक्षसे** । चक्षेर्बहुलं शिच्च । उ० ४ । २३३ । इति चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि दर्शने च-भावे असुन् । दर्शनाय ॥

२—**शिव-तमः** । अतिशायने तमबिष्ठनौ । पा० ५ । ३ । ५५ । इति तमप् । अतिशयेन कल्याणकरः । **रसः** । रस आस्वादे—अच् । सारः ।

का (भाजयत) भागी करो, (इव) जैसे (उशतीः) प्रीति करती हुई (मातरः) मातायें ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे मातायें प्रीति के साथ सन्तानों को सुख देती हैं और जैसे जल संसार में उपकारी पदार्थ है, वैसे ही सब मनुष्य परस्पर उपकारी बन कर लाभ उठावें और आनन्द भोगें ॥ २ ॥

तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ ।
आपो जनयथा च नः ॥ ३ ॥

तस्मै । अरम् । गमाम । वः । यस्य । क्षयाय । जिन्वथ । आपः । जनयथ । च । नः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे पुरुषार्थी मनुष्यो !] (तस्मै) उस पुरुष के लिये (वः) तुम को (अरम्) शीघ्र वा पूर्ण रीति से (गमाम) हम पहुंचावें, (यस्य) जिस पुरुष के (क्षयाय) ऐश्वर्य के लिये (जिन्वथ) तुम अनुग्रह करते हो । (आपः) हे जलो [जल समान उपकारी लोगो] (नः) हम को (च) अवश्य (जनयथ) तुम उत्पन्न करते हो ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे जल, अन्न आदि को उत्पन्न करके शरीर के पुष्ट करने और नौका, विमान आदि के चलाने में उपयोगी होता है इसी प्रकार जल के

भाजयत । हेतुमति च । पा० ३ । १ । २६ । इति भज सेवायां—णिच्-लोट् । भागिनः कुरुत । सेवयत । **उशतीः** । वश कान्तौ=अभिलाषे-शतृ । उगितश्च । पा० ४ । १ । ६ । इति ङीप् । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । उशत्यः, कामयमानाः, प्रीतियुक्ताः । **मातरः** । १ । २ । १ । जनन्यः ॥

३—**अरम्** । ऋ गतौ-अच् । शीघ्रम् । यद्वा, अल भूषणे निवारणे-अमु । लस्य रत्वम् । अलम्, पर्य्याप्तं पूर्णतया । **गमाम** । गम्लृ गतौ णिच्-छान्दसो लोट् । वयं गमयाम, प्रापयाम । **क्षयाय** । एरच् । पा० ३ । ३ । ५६ । इति क्षि निवासे ऐश्वर्ये च—अच् । निवासाय । ऐश्वर्यप्राप्तये । **जिन्वथ** । जिवि प्रीणने लट् । यूयं तर्पयथ । वर्धयथ । अनुगृह्णीध्वम् । **आपः** । १ । ४ । ३ । हे जल-

समान उपकारी पुरुष सब लोगों को लाभ और कीर्त्ति के साथ पुनर्जन्म देते हैं ॥ ३ ॥

ईशा॑ना॒ वार्या॑णां॒ क्षय॑न्तीश्चर्षणी॒नाम् ।
अ॒पो या॑चामि भेष॒जम् ॥ ४ ॥

ईशा॑नाः । वार्या॑णाम् । क्षय॑न्तीः । च॒र्ष॒णी॒नाम् ।
अ॒पः । या॒चा॒मि॒ । भे॒ष॒जम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(वार्याणाम्) चाहने योग्य धनों की (ईशानाः) ईश्वरी और (चर्षणीनाम्) मनुष्यों की (क्षयन्तीः) स्वामिनी (अपः) जल धाराओं [जल के समान उपकारी प्रजाओं] से मैं, (भेषजम्) भय जीतनेवाले ओषध को (याचामि) मांगता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ—जल से अन्न आदि औषध उत्पन्न होकर मनुष्य के धन और बल का कारण हैं। सो जल के समान गुणी महात्माओं से सहाय लेकर मनुष्यों को आनन्दित रहना चाहिये ॥ ४ ॥

यह मन्त्र ऋ. १० । ९ । ५ । है ॥

धाराः । **जनयथ** । हेतुमति च । पा० ३ । १ । २६ । इति जनी प्रादुर्भावे-णिच्-लट्, सांहितको दीर्घः । यूयं प्रादुर्भावयथ, उत्पादयथ, प्रजया यशसा वा वर्धयथ । **च** । अवधारणे, अवश्यम् । समुच्चये ॥

४—**ईशानाः** । ईश ऐश्वर्ये-शानच् । ईश्वरीः, नियन्त्रीः । **वार्याणाम्** । ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति वृङ् संभक्तौ-ण्यत् । अधीगर्थदयेशां कर्मणि । पा० २ । ३ । ५२ । इति कर्मणि षष्ठी । वरणीयानां, धनानाम् । **क्षयन्तीः** । क्षि निवासे, ऐश्वर्ये च-लटः शतृ । उगितश्च । पा० ४ । १ । ६ । इति ङीप् । ईश्वरीः, स्वामिनीः । **चर्षणीनाम्** । कृषेरादेश्च चः । उ० २ । १०४ । इति कृष कर्षणे-अनि, चादेशः । आकर्षन्ति वशीकुर्वन्ति—इत्यर्थः । चर्षणयः=मनुष्याः निघ० २ । ३ । पूर्ववत् कर्मणि षष्ठी । मनुष्याणाम् । **अपः** । अकथितं च । पा० १ । ४ । १०४ । इति अपादाने द्वितीया । जलधाराः । जलधारासकाशात् । जलवत् उपकारिभ्यो मनुष्येभ्यः । **याचामि** । याचृ याच्ञायाम्—लट् । द्विकर्मकः । अहं याचे, प्रार्थये । **भेषजम्** । १ । ४ । ४ । रोगनिवर्तकम्, औषधम् ॥

सूक्तम् ६ ॥

१—४॥ आपो देवताः । १—३ गायत्री, ४ पंक्तिः, ८×५ अक्षराणि ॥

आरोग्यतोपदेशः—आरोग्यता के लिये उपदेश ॥

शं नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ आपो॑ भवन्तु पी॒तये॑ ।
शं योर॒भि स्र॑वन्तु नः ॥ १ ॥

शम् । नः॒ । दे॒वीः । अ॒भिष्ट॑ये । आपः॑ । भ॒व॒न्तु॒ । पी॒तये॑ ।
शम् । योः । अ॒भि । स्र॒व॒न्तु॒ । नः॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(देवीः) दिव्य गुण वाले (आपः) जल [जल के समान उपकारी पुरुष] (नः) हमारे (अभिष्टये) अभीष्ट सिद्धि के लिये और (पीतये) पान वा रक्षा के लिये (शम्) सुख दायक (भवन्तु) होवें। और (नः) हमारे (शम्) रोग की शान्ति के लिये, और (योः) भय दूर करने के लिये (अभि) सब ओर से (स्रवन्तु) वर्षा करें ॥ १ ॥

भावार्थ—वृष्टि से जल के समान उपकारी पुरुष सब के दुःख की निवृत्ति और सुख की प्रवृत्ति में प्रयत्न करते रहें ॥ १ ॥

१—शम् । १ । ३ । १ । सुखं, सुखकारिण्यः । **देवीः** । १ । ४ । ३ । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । देव्यः । दिव्याः । **अभिष्टये** । अभि + इष वाञ्छायाम्—क्तिन् । शकन्ध्वादिषु पररूपं वक्तव्यम् । वा० पा० ६ । १ । ६४ । इति पररूपम् । अभीष्टसिद्धये । **आपः** । १ । ४ । ३ । जलानि, जलवद् गुणिनः पुरुषाः । **पीतये** । घुमास्थापाजहातिसां हलि । पा० ६ । ४ । ६६ । इति पा पाने-क्तिनि प्रत्यये ईत्वम् । यद्वा । पा रक्षणे, ओप्यायी, प्यैङ् वृद्धौ वा-क्तिन्, क्तिच् वा । यथा । पः किच्च । उ० १ । ७१ । इति पा-तु प्रत्ययः । पिबति पाति वा स पीतुः । कित्वात् ईकारः । पानाय, रक्षणाय, वृद्धये । शम् । १ । ३ । १ । रोगशमनाय । **योः** । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । इति यु मिश्रणामिश्रणयोः-विच्, सकारश्छान्दसः यद्वा । यु—डोस् ।

मन्त्र १, य० ३६ । १२ । मन्त्र १—३ ऋ० म० १० सू० ६ म० ४, ६, ७ । तथा मन्त्र २, ३ ऋ० म० १ सू० २३ म० २०, २१ हैं ॥

अप्सु मे सोमो अब्रवीदुन्तर्विश्वानि भेषुजा ।
अग्निं च विश्वशंभुवम् ॥ २ ॥

अप्—सु । मे । सोमः । अब्रवीत् । अन्तः । विश्वानि । भेषुजा ।
अग्निम् । च । विश्व—शंभुवम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सोमः) बड़े ऐश्वर्य वाले परमेश्वर ने [चन्द्रमा या सोमलता ने] (मे) मुझे (अप्सु अन्तः) व्यापन शील जलों में (विश्वानि) सब (भेषजा=०-नि) औषधों को, (च) और (विश्वशम्भुवम्) संसार के सुखदायक (अग्निम्) अग्नि [बिजुली वा पाचनशक्ति] को बताया है ॥ २ ॥

भावार्थ—परमेश्वर सब विद्याओं का प्रकाशक है, चन्द्रमा औषधियों को पुष्ट करता है, और सोमलता मुख्य ओषधि है । यह सब पदार्थ जैसे जल द्वारा औषधों, अन्न आदि और शरीरों के बढ़ाने, बिजुली और पाचन शक्ति पहुंचाने और तेजस्वी करने में मुख्य कारण होते हैं वैसे ही मनुष्यों को परस्पर सामर्थ्य बढ़ाकर उपकार करना चाहिये ॥ २ ॥

शंयोः......शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्, इति निरु० । ४ । २१ । भय-पृथक्करणाय । **अभि** । सर्वतः । **स्रवन्तु** । स्रु प्रस्रवणे । वर्षन्तु ॥

२—**अप्सु** । १ । ४ । ३ । व्यापयितृषु, जलेषु जलवद् गुणिषु मनुष्येषु-इत्यर्थः । **सोमः** । अर्त्तिस्तुसुहु० । उ० १ । १४० । इति षु प्रसवैश्वर्ययोः-मन् । सवति ऐश्वर्यहेतुर्भवतीति सोमः । परमेश्वरः । चन्द्रमाः । सोमलता । **अब्रवीत्** । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि-लङ् । उपदिष्टवान् । अकथयत् । **अन्तः** । मध्ये । **विश्वानि** । सर्वाणि । **भेषजा** । १ । ४ । ४ । शेश्छन्दसि बहुलम् । पा० ६ । १ । ७० । इति शेर्लोपः । भेषजानि । भयनिवारणानि । औषधानि । **अग्निम्** । अङ्गेर्नलोपश्च । उ० ४ । ५० । इति अगि गतौ-नि, नलोपः । तेजः । वैश्वानरं । वह्निम् । पाचनशक्तिम् । **विश्व-शंभुवम्** । क्विप् च । पा० ३ । २ । ७६ । इति विश्व+शम्+भू-क्विप्, उवङ् आदेशः । विश्वस्य जगतः सुखस्य भावयितारं कर्तारम्, सर्वसुखकरम् ॥

आपः॑ पृणीत भेषजं वरू॑थं तन्वे॒ ३ मम॑ ।
ज्योक् च॒ सूर्यं॑ दृशे ॥ ३ ॥

आपः॑ । पृ॒णीत । भे॒षजम् । वरू॑थम् । तन्वे॑ । मम॑ ।
ज्योक् । च॒ । सूर्य॑म् । दृ॒शे ॥ ३ ॥

भावार्थ—(आपः) हे व्यापन शील जलो [जल समान उपकारी पुरुषो] (मम) मेरे (तन्वे) शरीर के लिये (च) और (ज्योक्) बहुत काल तक (सूर्यम्) चलने वा चलाने वाले सूर्य को (दृशे) देखने के लिये (वरूथम्) कवचरूप (भेषजम्) भय निवारक औषध को (पृणीत) पूर्ण करो ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे युद्ध में योद्धा की रक्षा झिलम से होती है वैसे ही जल समान उपकारी पुरुष परस्पर सहायक होकर सब का जीवन आनन्द से बढ़ाते हैं ॥ ३ ॥

शं न॒ आपो॑ धन्व॒न्या॒ ३ : शमु॑ सन्त्वनू॒प्याः॑ ।
शं नः॑ खनि॒त्रिमा॒ आपः॒ शमु॒ याः कु॒म्भ आभृ॑ताः
शि॒वा नः॑ सन्तु॒ वार्षि॑कीः ॥ ४ ॥

शम् । नः॒ । आपः॑ । ध॒न्व॒न्याः॑ । शम् । ऊं॒ इति॑ । सन्तु॒ ।
अ॒नू॒प्याः॑ । शम् । नः॒ । ख॒नि॒त्रिमाः॑ । आपः॑ । शम् । ऊं॒ इति॑ ।

३—आपः । हे व्यापयितृणि जलानि [जल समानोपकारिणः पुरुषाः] । पृणीत । पॄ पालनपूरणयोः-लोट् पालयत, पूरयत । भेषजम् । १ । ४ । ४ । भयनिवारकम् । औषधम् । वरूथम् । जॄवृञ्भ्यामूथन् । उ० २ । ६ । इति वृञ् वरणे—ऊथन्, व्रियते शरीरमनेन । तनुत्राणम्, कवचम् । तन्वे । १ । १ । १ । तद्वत् पदसिद्धिः स्वरितश्च । तन्यते विस्तीर्यते तनूः । शरीराय । मम । मदीयाय । ज्योक् । ज्यो नियमे-डोकि । चिरकालम् । सूर्यम् । १ । ३ । ५ । जगतः प्रेरकम्, आदित्यम् । दृशे । दृशे विख्ये च । पा० ३।४।११। इति दृशिर् प्रेक्षणे-तुमर्थे के प्रत्ययान्तो निपात्यते । द्रष्टुम् ॥

याः । कुम्भे । आ-भृताः । शिवाः । नः । सन्तु । वार्षिकीः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(नः) हमारे लिये (धन्वन्याः) निर्जल देश के (आपः) जल (शम्) सुख दायक, (उ) और (अनूप्याः) जल वाले देश के [जल] (शम्) सुखदायक (सन्तु) होवें। (नः) हमारे लिये (खनित्रिमाः) खनती वा फावड़े से निकाले गये (आपः) जल (शम्) सुखदायक होवें, (उ) और (याः) जो (कुम्भे) घड़े में (आभृताः) लाये गये वह भी (शम्) सुख दायी होवें, (वार्षिकीः) वर्षा के जल (नः) हम को (शिवाः) सुखदायी (सन्तु) होवें ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे जल सब स्थानों में उपकारी होता है वैसे ही जल समान उपकारी मनुष्यों को प्रत्येक कार्य और प्रत्येक स्थान में परस्पर लाभ पहुंचाकर सुखी होना चाहिये ॥ ४ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

४—शम्—१ । २ । १ । सुखकारिण्यः । नः—अस्मभ्यम् । आपः—जलानि, जलवद् गुणिनः पुरुषाः । **धन्वन्याः**— कनिन् युवृषितक्षिधन्वि-राजिधृप्रतिदिवः । उ० १ । १५६ । इति धवि गतौ-कनिन् । इदित्वात् नुम् । इति धन्वन् । भवे छन्दसि । पा० ४ । ४ । ११० । इति यत् । तित् स्वरितम् । पा० ६ । १ । १८५ । इति स्वरितः । धन्वनि मरुभूमौ भवा आपः । उ इति । च । **अनूप्याः** । अनुगता आपो यत्रेति अनूपो देशः । ऋक्पूरब्धूः० । पा० ५ । ४ । ७४ । इति अनु+अप्—अकारः समासान्तः । ऊदनोर्देशे । पा० ६ । ३ । ९८ । इति अप् शब्दस्य अकारस्य ऊकारः । पूर्ववद् यत् प्रत्ययः स्वरितश्च । अनूपे जलप्राये देशे भवा आपः । **खनित्रिमाः** । खनु अवदारणे-अस्माच्छान्दसः क्त्रि प्रत्ययः । आर्धधातुकस्येड् वलादेः । पा० ७ । २ । ३५ । इति इडागमः । क्त्रेर्मम्नित्यम् । इति मप् खनित्रेण अवदारणेन निर्वृत्ताः कूपोद्भवाः । **कुम्भे** । कुं भूमिं उम्भति जलेन । उम्भ पूरणे-अच् । शकन्ध्वादित्वात् साधुः । घटे, कलशे । **आ-भृताः** । हञ् हरणे-क्त । हृग्रहोर्भः-इति भत्वम् । आहृताः, आनीताः । **शिवाः** । सुखदाच्यः । **वार्षिकीः** । छन्दसि ठञ् । पा० ४ । ३ । १९ । इति वर्षा+ठञ् । ङीप् । जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । वार्षिक्यः, वर्षासु भवाः ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ७ ॥

१-७॥ इन्द्राग्नी देवते । १-४, ६, ७ अनुष्टुप् ८×४, ५ त्रिष्टुप् ११×४ अक्षराणि ॥

सेनापतिलक्षणानि—सेनापति के लक्षण ॥

स्तुवानम॑ग्न आ व॑ह यातुधानं॑ किमीदिन॑म् ।
त्वं हि दे॑व वन्दितो हन्ता दस्योर्व॑भूविथ ॥ १ ॥

स्तुवानम् । अग्ने । आ । वह । यातु-धानम् । किमीदिनम् ।
त्वम् । हि । देव । वन्दितः । हन्ता । दस्योः । बभूविथ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्ने! [अग्नि समान प्रतापी] (स्तुवानम्) [तेरी] स्तुति करते हुये (यातुधानम्) पीड़ा देने हारे (किमीदिनम्) यह क्या यह क्या हो रहा है ऐसा कहने वाले लुतरे को (आवह) ले आ। (हि) क्योंकि (देव) हे राजन् (त्वम्) तू (वन्दितः) स्तुति को प्राप्त करके (दस्योः) चोर वा डाकू का (हन्ता) हनन कर्ता (बभूविथ) हुआ था ॥ १ ॥

१—स्तुवानम् । ष्टुञ् स्तुतौ—लटः शानच् । अचि श्नुधातुभ्रुवां० । पा० ६।४।७७। इति उवङ् । त्वां प्रसन्नं स्तुवन्तम् । अग्ने । १।६।२। अग्नि शब्दो यास्केन बहुविधं व्याख्यातः, निरु० ७।१४। हे वह्ने, हे पावक, हे अग्निवत् तेजस्विन् सेनापते! आ-वह । आनय । यातु-धानम्—कृवापाजिमि० । उ० । १।१। इति यत ताडने-उण् । यातुं पीड़ां दधाति ददाति । डुधाञ् धारणपोषणदानेषु—युच् । पीड़ाप्रदं राक्षसम् । किमीदिनम् । किम्+इदानीम् वा किम्+इदम्-इनि । किमीदिने किमिदानीमिति चरते किमिदं

भावार्थ—जब अग्नि के समान तेजस्वी और यशस्वी राजा दुःखदायी लुतरों [चुग़ल ख़ोरों] और डाकुओं और चोरों को आधीन करता है तो शत्रु लोग उसके बल और प्रताप की प्रशंसा करते हैं और राज्यमें शान्ति फैलती है॥१॥

(किमीदिन्) शब्द का अर्थ भगवान् यास्क ने अब क्या हो रहा है वा यह क्या यह क्या हो रहा है ऐसा कहते हुये छली, सूचक वा चुग़लख़ोर का किया है, निरु० ६। ११॥

आज्यस्य परमेष्ठिन् जातवेदुस्तनूवशिन् ।
अग्ने तौलस्य प्राशान यातुधानान् वि लापय ॥ २ ॥

आज्यस्य । पुरमे-स्थिन् । जात-वेदः । तनू-वशिन् ।
अग्ने । तौलस्य । प्र । अशान । यातु-धानान् । वि । लापय ॥ २॥

भाषार्थ—(परमेष्ठिन्) हे बड़े ऊंचे पदवाले! (जातवेदः) हे ज्ञान वा धन के देने वाले! (तनूवशिन् ।) शरीरों को वश में रखने हारे ! (अग्ने) अग्नि, राजन्! तू (तौलस्य) तोल से पाये हुये (आज्यस्य) घृत का (प्र-अशान) भोजन कर। और (यातुधानान्) दुखदायी राक्षसों से (विलापय) विलाप करा॥ २॥

किमिदमिति वा पिशुनाय चरते-निरु० ६। ११। इति यास्कवचनात् किमिदानीं वर्तते किमिदंवर्तते- इति एवमन्वेषमाणः किमिदी, पिशुनः । साधुजनवैरिणं, सदा विरुद्धबुद्धिं, पिशुनम्। **हि** । यस्मात् । अवश्यम्। **देव** । १।४।३। हे द्योतमान! राजन्!। **वन्दितः** । वदि स्तुत्यभिवादयोः—क्त। स्तुतः। नमस्कृतः। **हन्ता** । हन—तृच्। हननकर्ता, घातयिता। **दस्योः** । यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच्। उ० ३। २०। इति दसु उपक्षये—युच्। दस्यति परस्वान् नाशयतीति। चौरस्य। शत्रोः। **बभूविथ** । भू सत्तायां प्राप्तौ च—लिट् मध्यमैकवचनम्। त्वं भवसि स्म॥

२—**आज्यस्य**। आङ्+अञ्ज मिश्रणे गतौ-क्यप्, न लोपः। कर्मणि षष्ठी,आ अज्यते शरीरेण। आज्यं, घृतम्। **परमे-स्थिन्** । परमे कित्। उ० ४।१०। इति परमे+ष्ठा गतिनिवृत्तौ-इनि, स च कित्। हलन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्।

भावार्थ—जैसे अग्नि स्रुवादि के तौल व परिणाम से दिये हुये घृतादि हवन सामग्री को पाकर प्रज्वलित होता है वैसे ही प्रतापी राजा प्रजा का दिया हुआ कर लेकर दुष्टों को दण्ड देता है, उससे प्रजा सदा आनन्द युक्त रहती है २॥

वि लंपन्तु यातुधाना अत्त्रिणो ये किमीदिनः ।
अथेदमग्ने नो हविरिन्द्रश्च प्रति हर्यतम् ॥ ३ ॥

वि । लपन्तु । यातु-धानाः । अत्त्रिणः । ये । किमीदिनः । अथ । इदम् । अग्ने । नः । हविः । इन्द्रः । च । प्रति । हर्यतम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (यातुधानाः) पीड़ा देने हारे, (अत्त्रिणः) पेट भरने वाले (किमीदिनः) यह क्या यह क्या, ऐसा करने वाले लुतरे [हैं] [वे] (विलपन्तु)

पा० ६ । ३ । ६ । इत्यलुक् । स्थास्थिन्स्पृणाम् । वा० पा० ८ । ३ । ९७ । इति षत्वम् । परमे उत्तमे पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी । हे उच्चपदस्थ राजन् । जात-वेदः । गतिकारकोपपदयोः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च । उ० ४ । २२७ । इति जात+विद ज्ञाने, वा विद्लृ लाभे-असुन् । जातं प्रादुर्भूतं वेदो ज्ञानं धनं वा यस्मात् स जातवेदाः । जातवेदाः कस्माज् जातानि वेद जातानि वैनं विदुर्जाते जाते विद्यत इति वा जातवित्तो वा जातधनो जातविद्योवा जातप्रज्ञानो वा-इति निरु० ७ । १९ । हे जातधन, हे जातप्रज्ञान । तनू-वशिन् । वशोऽस्त्यस्य—इनि । हे तनूनां अस्माकं शरीराणां वशयितः । अग्ने । म० १ । हे अग्निवन् तेजस्विन् । तौलस्य । तुल उन्माने- घञ् । तोल्यते उन्मीयते स्रुवादिना इति तोलम् । तोल-अण् । कर्मणि षष्ठी । तौलम् । तोलेन परिमाणेन कृतम् । प्र+अशान । अश भोजने-लोट् । हलः श्नः शानज् झौ । पा० ३ । १ । ८३ । इति श्नाप्रत्ययस्य शानच् । हौ परतः । अतो हेः । पा० ६ । ४ । १०५ । इति हेर्लुक् । त्वं भोजनं कुरु । भक्षय । यातु-धानान् । मं० १ । पीडाप्रदान् राक्षसान् । वि+लापय । हेतुमति च । पा० ३ । १ २६ । इति णिच् विकृतं । लप भाषे-णिच्-लोट् । विलापेन दुःख वचनेन युक्तान् कुरु ॥

३—विलपन्तु । लप कथने—लोट् । विकृतं लपनं परिवेदनं कुर्वन्तु ।

विलाप करें। (अथ) और (अग्ने) हे अग्नि (च) और (इन्द्रः) हे वायु, तुम दोनों (इदम्) इस (हविः) होम समग्री को (प्रति हर्यतम्) अंगीकार करो ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे अग्नि, वायु के साथ हवन सामग्री से प्रचंड होकर दुर्गन्धादि दोषों का नाश करती है वैसे ही अग्नि के समान तेजस्वी और वायु के समान वेगवान् महाप्रतापी राजा से दुःखदायी, स्वार्थी, वतवने लोग अपने किये का दंड पाकर विलाप करते हैं तब उसके राज्य में शान्ति होती है ॥ ३ ॥

अग्निः पूर्व आ रंभतां प्रेन्द्रो नुदतु बाहुमान्।
ब्रवीतु सर्वो यातुमानमयस्मीत्येत्य ॥ ४ ॥

अग्निः। पूर्वः। आ। रभताम्। प्र। इन्द्रः। नुदतु। बाहु-मान्। ब्रवीतु। सर्वः। यातु-मान्। अयम्। अस्मि। इति। आ-इत्य ॥४॥

भाषार्थ—(पूर्वः) मुखिया (अग्निः) अग्नि रूप राजा (आरभताम्) [शत्रुओं] को पकड़ लेवे, (बाहुमान्) प्रबल भुजा वाला (इन्द्रः) वायु रूप सेनापति (प्रनुदतु) निकाल देवे। (सर्वः) एक एक (यातुमान्) दुःखदायी राक्षस (एत्य) आकर (अयम् अस्मि) यह मैं हूं-(इति) ऐसा (ब्रवीतु) कहे ॥ ४ ॥

यातु-धानाः । म- १ । पीड़ाप्रदाः, राक्षसाः । **अत्त्रिणः** । अदेस्त्रिनिश्च । उ० ४ । ६८ । इति अद भक्षणे-त्रिनि । अदनशीलाः, उदरपोषकाः । **किमीदिनः** । म० १ । विरुद्धबुद्धयः,पिशुनाः । **अथ** । अनन्तरम् अपिच । **इदम्** । प्रस्तुतमुपस्थितम् । **अग्ने** । म० १ । अग्निवत् तेजस्विन् राजन् । **हविः** । १ । ४ । ३ । दानम् । हव्य द्रव्यम् । आह्वानम् । **इन्द्रः** । १ । २ । ३ । परमैश्वर्यवान् । **वायुः** । वायुवद् वेगवान् राजा । **प्रति+हर्यतम्** । हर्य गतिकान्त्योः-लोट् । युवां कामयेथां, स्वीकुरुतम् ॥

४—**अग्निः** । म० १ । अग्निवत् तेजस्वी राजा । **पूर्वः** । पूर्व निमन्त्रणे निवासे वा-अच् । पुरोगामी, मुख्यः । **आरभताम्** । रभ रभस्ये=उपक्रमे । आङ् पूर्वकात् रभ स्पर्शे—लोट् । स्पृशतु । निगृह्णातु । **इन्द्रः** । १ । २ । ३ वायुः,वायुवद् वेगवान् राजा । **प्र+नुदतु** । णुद प्रेरणे तुदादित्वात् शः । प्रेरयतु ।

भावार्थ--जब अग्नि के समान तेजस्वी और वायु के समान वेगवान् महा प्रतापी राजा उपद्रवियों को पकड़ता और देश से निकालता है तब उपद्रवी लोग अपना अपना नाम लेकर उस राजा के शरणागत होते हैं ॥ ४ ॥

पश्याम ते वीर्यं जातवेदः प्र णो ब्रूहि यातुधानान् नृचक्षः । त्वया सर्वे परितप्ताः पुरस्तात् त आयन्तु प्रब्रुवाणा उपेदम् ॥५॥

पश्याम । ते । वीर्यम् । जात-वेदः । प्र । नः । ब्रूहि । यातु-धानान् । नृ-चक्षः । त्वया । सर्वे । परि-तप्ताः । पुरस्तात् । ते । आ । यन्तु । प्र-ब्रुवाणाः । उप । इदम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे ज्ञान देने हारे वा बहुत धन वाले राजा ! (ते) तेरे (वीर्यम) पराक्रम को (पश्याम) हम देखें,(नृचक्षः) हे मनुष्यों के देखने हारे ! (नः) हमें (यातुधानान्) दुःख दायी राक्षसों को (प्रब्रूहि) बतादे । (त्वया) तुझ से (परितप्ताः) जलाये हुये (सवे) वह सब (प्रब्रुवाणाः) जय बोलते हुये (पुरस्तात्) [तेरे] आगे (इदम्) इस स्थान में (उप आ यन्तु) चले आवें ॥ ५ ॥

अपसारयतु । वाहुमान् । तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् । पा० ५ । २ । ९४ । भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने । संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥ १ ॥ कारिका ॥ इति वाहुशब्दात् प्रशंसायां मतुप् । प्रबलभुजः । महाबली । ब्रवीतु । ब्रूञ्-लोट् । कथयतु । सर्वः ।। निखिलः । यातु-मान् । कृवा पा० उ० १ । १ । इति यत ताडने-उण् । ततो मतुप् पूर्ववत् निन्दायाम् । यातवो यातना विद्यन्तेऽस्मिन् स यातुमान्, पीड़ावान्, महापीड़ाकारी । अयम् । एतन्नामकोऽहम् । इति । एवम् । आ-इत्य । समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् । पा० ७ । १ । ३७ । इति आङ्+इण् गतौ-इति क्त्वाप्रत्ययस्य ल्यबादेशः । ह्रस्वस्य पिति कृति० । पा०६ । १ । ७१ । इति तुक् आगमः । आगत्य ॥

५—पश्याम । दृशिर् प्रेक्षणे-लोट् । पाघ्राध्मास्था० । पा० ७ । ३ । ७८ । इति शपि पश्यादेशः । अवलोकयाम । वीर्यम् । वीरस्य भावः, वीर-यत् ।

भावार्थ—राजा को योग्य है कि अपने राज्य में विद्या प्रचार करे, सब प्रजा पर दृष्टि रक्खे और उपद्रवियों को अपने आधीन सर्वथा रक्खे कि वह लोग उसकी आज्ञा को सर्वदा मानते रहें ॥ ५ ॥

आ र॑भस्व जातवेदो॒ऽस्माका॒र्था॑य जज्ञिषे ।
दू॒तो नो॑ अग्ने भू॒त्वा या॑तु॒धाना॒न् वि ला॑पय ॥ ६ ॥

आ । र॒भ॒स्व॒ । जा॒त॒-वे॒दः॒ । अ॒स्माक॑ । अर्थाय । ज॒ज्ञि॒षे॒ । दू॒तः । नः॒ । अ॒ग्ने॒ । भू॒त्वा । या॒तु॒-धाना॑न् । वि । ला॒प॒य॒ ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे ज्ञान वा धन देनेवाले राजन् ! (आरभस्व) वैरियों को पकड़ ले, (अस्माक) हमारे (अर्थाय) प्रयोजन के लिये (जज्ञिषे) तू उत्पन्न हुआ है। (अग्ने) हे अग्ने [सेनापते] (नः) हमारा (दूतः) दूत (भूत्वा) होकर (यातुधानान्) दुःख दायियों से (विलापय) विलाप करा ॥६॥

यद्वा,वीरे साधु । तत्र साधुः । पा० ४ । ४ । ९८ । इति यत् । तित् स्वरितम् । पा० ६ । १ । १८५ । इति स्वरितः । पराक्रमम्,सामर्थ्यम् । जात-वेदः । म० २ । हे जातप्रज्ञान । नः । अकथितं च । पा० १ । ४ । ५१ इति । कर्मत्वम् । अस्मान् प्रति । प्र+ब्रूहि । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि लोट् , द्विकर्मकः । प्रकथय । यातुधानान् । म० १ । पीड़ा प्रदान् राक्षसान् । नृचक्षः । चष्टिः पश्यति कर्मा । निघ० ३ । ११ । चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि-असुन्, नॄन् मनुष्यान् चष्टे पश्यतीति नृचक्षाः । हे मनुष्याणां द्रष्टः, अथवा उपदेशक । त्वया । अग्निना,अग्निवत् तेजस्विना । परि-तप्ताः । सम्यग् दग्धाः । पुरस्तात् । अग्रे । ते । प्रसिद्धाः । आ+यन्तु । गच्छन्तु प्र-ब्रुवाणाः । ब्रूञ्-शानच् । प्रकथयन्तः, जयं प्रलपन्तः । इदम् । दृश्यमानं स्थानम् ॥

६—आ+रभस्व । म० ४ । आङ्+रभ स्पर्शे-लोट् । निगृहाण । जात-वेदः । म० २ । जातप्रज्ञान ! अस्माक । अन्त्यलोपश्छान्दसः । अस्माकम् । अर्थाय । अर्थ याचने-घञ् । प्रयोजनाय, धनाय । जज्ञिषे । जनी प्रादुर्भावे लिट्, त्वं जातवानसि । दूतः । दुतनिभ्यां दीर्घश्चः । उ० ३ । ९० । इति दु

भावार्थ—(दूत) का अर्थ शीघ्रगामी और सन्तापकारी है, जैसे दूत शीघ्र चल कर संदेश पहुंचाता है वैसे ही बिजुली रूप अग्नि शरीरों में प्रविष्ट होकर वेग उत्पन्न करता है अथवा काष्ठ आदि को जलाता है, इसी प्रकार अग्नि के समान तेजस्वी और प्रतापी राजा अपनी प्रजा की दशा को जान कर यथोचित न्याय करता और दुष्टों को दण्ड देता है ॥६॥

त्वमग्ने यातुधानानुपबद्धाँ इहा वह ।

अथैषामिन्द्रो वज्रेणापि शीर्षाणि वृश्चतु ॥ ७ ॥

त्वम् । अग्ने । यातु-धानान् । उप-बद्धान् । इह । आ । वह । अथ । एषाम् । इन्द्रः । वज्रेण । अपि । शीर्षाणि । वृश्चतु ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि ! (त्वम्) तू (उप बद्धान्) दृढ़ बांधे हुये (यातु-धानान्) दुःखदायी राक्षसों को (इह) यहां पर (आवह) लेआ। (अथ) और (इन्द्रः) वायु (वज्रेण) कुल्हाड़े से (एषाम्) इनके (शीर्षाणि) मस्तकों को (अपि) भी (वृश्चतु) काट डाले ॥७॥

भावार्थ—अग्नि के समान प्रतापी और (इन्द्र) वायु के समान वेगवान् राजा उत्पातियों को कारागार में डाल दे और उनके सिर उड़ा दे ॥

इसी प्रकार सब मनुष्य आध्यात्म विषय में आत्मा को सेनानी, और लोभ,

---

गतौ–क्त । यद्वा टुदु उपतापे–क्त दीर्घश्च । द्रवति गच्छति दुनोत्युपतापयतीति दूतः । वार्त्ताहरः, सन्देशहरः । संतापकः । अग्निः । अग्ने । अग्निवत् तेजस्विन् राजन् । **यातु-धानान्** । म० १ । पीड़ाप्रदान् । **विलापय** । म० २ । विलापयुक्तान् कुरु, रोदय ।

७—**यातु-धानान्** । म० १ पीड़ाप्रदान् । **उप-बद्धान्** । बन्ध बन्धने–क्त- दृढ़बन्धनयुक्तान् । **इह** । निपातस्य च । पा० ६ । ३ । १३६ । इति दीर्घः । अत्र । **अथ** । च । तदनन्तरम् । **एषाम्** । यातुधानानाम् । **इन्द्रः** । १ । २ । ३ । वायुः । वायुवद् वेगवान् । परमैश्वर्यवान् ॥ **वज्रेण** । ऋज्रेन्द्राग्रवज्रविप्र० । उ० २ । २८ । इति वज गतौ–रन् । कुलिशेन, कुठारेण । **अपि** । एव, अवश्यम् । **शीर्षाणि** । शीर्षंश्छन्दसि । पा० ६ । १ । ६० । इति शिरः शब्दस्य शीर्षन्

मोह, आदि को शत्रु, और गृहस्थिति में गृहपति को सेनापति और विघ्नों को बैरी मान कर योग्य व्यवहार करें ॥

सूक्तम् ॥ ८ ॥

१-४ ॥ अग्निः सोमश्च देवते । १-३ अनुष्टुप् ८×४, ४ त्रिष्टुप् ११×४ अक्षराणि ॥

सेनापतिलक्षणानि—सेनापति के लक्षण ॥

इदं हविर्यातुधानान् नदी फेनमिवा वहत् ।
य इदं स्त्री पुमानकरिह स स्तुवतां जनः ॥ १ ॥

इदम् । हविः । यातु-धानान् । नदी । फेनम्-इव । आ ।
वहत् । यः । इदम् । स्त्री । पुमान् । अकः । इह । सः ।
स्तुवताम् । जनः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इदम्) यह (हविः) [हमारी] भक्ति (यातुधानान्) राक्षसों को (आवहत्) ले आवे, (इव) जैसे (नदी) नदी (फेनम्) फेन को। (यः) जिस किसी (पुमान्) मनुष्य ने अथवा (स्त्री) स्त्री ने (इदम्) इस [पापकर्म] को (अकः) किया है (सः जनः) वह पुरुष (स्तुवताम्) [तेरी] स्तुति करे ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रजा की पुकार सुनकर जब राजा दुष्टोंको पकड़ता है, अपराधी स्त्री और पुरुष अपने अपराध को अंगीकार कर लेते और उस प्रतापी राजा की स्तुति करते हैं ॥१॥

आदेशः । शिरांसि, मस्तकानि । वृश्चतु । ओव्रश्चू छेदने, तुदादित्वात् शः । छिनत्तु ॥

१—इदम् । प्रस्तुतं, क्रियमाणम् । हविः । १ । ४ । ३ । दानम् । भक्तिः । आवाहनम् । यातु-धानान् । १ । ७ । १ । पीड़ाप्रदान् राक्षसान् । नदी । नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः । पा० ३ । १ । १३४ । इति णद ध्वनौ-पचाद्यच् । गणे नदट् इति पाठात् टित्वात्-ङीप् । नदति प्रवाहवेगेन शब्दायत इति । नद्यः

(स्त्री) शब्द का अर्थ संग्रह करने हारी वा स्तुति योग्य, और [पुमान्] का अर्थ रक्षक वा पुरुषार्थी है।

अयं स्तु॑वान आग॑मदि॒मं स्म॒ प्रति॑ हर्यत ।

बृह॑स्पते॒ वशे॑ ल॒ब्ध्वाग्नीषोमा॒ वि वि॑ध्यतम् ॥ २ ॥

अ॒यम् । स्तु॒वा॒नः । आ । अ॒ग॒म॒त् । इ॒मम् । स्म॒ । प्रति॑ । ह॒र्य॒त॒ । बृह॑स्पते । वशे॑ । ल॒ब्ध्वा । अ॒ग्नीषो॒मा । वि । वि॒ध्य॒त॒म् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह [शत्रु] (स्तुवानः) स्तुति करता हुआ (आ-अगमत्) आया है, (इमम्) इसका (स्म) अवश्य (प्रति हर्यत) तुम सब स्वागत करो। (बृहस्पते) हे बड़े बड़ों के रक्षक राजन्! [दूसरे वैरी को] (वशे) वश में (लब्ध्वा) लाकर [वर्त्तमान हो], (अग्नीषोमा=०-मौ) हे अग्नि और चन्द्रमा! तुम दोनों [अन्य वैरियों को] (वि) अनेक भांति से (विध्यतम्) ताड़ो॥ २॥

कस्मात् नदना भवन्ति शब्दवत्यः—निरु० २। २४। नदनशीला, सरित्, तरङ्गिणी। **फेनम्** । फेनमीनौ। उ० ३। ३। इति स्फायी वृद्धौ-नक्, फेशब्दादेशः। स्फायते वर्धते स फेनः। हिण्डीरम्, समुद्रफेनम्। **आ+वहतु** । वह प्रापणे-लेट्। आनयेत्। **स्त्री** । स्तायतेर्ड्रट्। उ० ४। १६६। इति स्त्यै संहतौ, ध्वनौ-ड्रट्, ङीप्। स्त्यायति शब्दयति गृह्णाति वा गुणान् सा। यद्वा, ष्टुञ् स्तुतौ-ड्रट्। ङीप्। स्तौति गुणान् वा स्तूयते सा स्त्री। नारी। **पुमान्** । पातेर्डुमसुन्। उ० ४। १७८ इति पा रक्षणे डुमसुन्। डित्वात् टिलोपः। पातीति पुमान् मनुष्यः, पुरुषः। **अकः** । डुकृञ् करणे-लुङ्। हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०। पा० ६। १। ६८। इति ति इत्यस्य इकार लोपे तलोपः। अकार्षीत्। **स्तुवताम्** । ष्टुञ् स्तुतौ-लोट्। छन्दसि शः। स्तुतिं करोतु। **जनः** । जनी प्रादुर्भावे, वा जन जनने-अच्। जायते जनयति वा स जनः। लोकः॥

२—**अयम्** । शत्रुः। **स्तुवानः** । ष्टुञ् स्तुतौ—शानच्। गुणान् स्तुवन्। **आ+अगमत्** । गम्लृ गतौ—लुङ्। आगतवान्। **इमम्** । शत्रुम्। **स्म** । अवश्यम्, प्रीत्या। **प्रति+हर्यत** । हर्य गतिकान्त्योः-लोट्। यूयं प्रतिकाम-यध्वम्, स्वकीयत्वेन परिगृह्णीत। **बृहस्पते** । तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः

भावार्थ—जो शत्रु राजा का प्रभुत्व मानकर शरणागत हो, राजा और कर्मचारी उसका स्वागत करें। प्रतापी राजा दूसरे वैरी को शम दम आदि से अपने आधीन रक्खे। और अन्य वैरियों को (अग्नीषोमा) दंड देने में अग्नि सा प्रचंड और न्याय करने में (सोम) चन्द्रमा सा शान्त स्वभाव रहे ॥२॥

यातुधानस्य सोमप जहि प्रजां नयस्व च ।
नि स्तुवानस्य पातय परमक्ष्युतावरम् ॥ ३ ॥

यातु-धानस्य । सोम-प । जहि । प्र-जाम् । नयस्व । च ।
निः । स्तुवानस्य । पातय । परम् । अक्षि । उत । अवरम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सोमप) हे अमृत पीने हारे [राजन्] तू (यातुधानस्य) पीड़ा देने हारे पुरुष के (प्रजाम्) मनुष्यों को (जहि) मार, (च) और (नयस्व) ले आ। (निस्तुवानस्य) अपस्तुति [निन्दा] करते हुये [शत्रु की] (परम्) उत्तम [हृदय]

सुट् तलोपश्च। वार्त्तिकम्, पा० ६ । १ । १५७ । इति बृहत् + पतिः, सुट् आगमः, तकारलोपश्च । हे बृहतां महतां विदुषां पालयितः, विद्वन् राजन् ! । वशे । वशिरण्योरुपसंख्यानम् । वा० । पा० ३ । ३ । ५८ । इति वश स्पृहायां—अप् । अधीनत्वे, आयत्ततायाम् । लब्ध्वा । लभ प्राप्तौ-क्त्वा । आनीय । प्राप्य [अन्य शत्रुं तिष्ठ, इति शेषः] । अग्नीषोमा । अग्नि श्च सोमश्चेति द्वन्द्वे । ईदग्नेः सोमवरुणयोः । पा० ६ । ३ । २७ । इति ईत्त्वम् । अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः । पा० ८ । ३ । ८२ । इति षत्वम् । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । इति पूर्वसवर्णदीर्घः । अर्त्तिस्तुसुहुसृधृक्षि० । उ० १ । १४० । इति षु ऐश्वर्यप्रसवयोः—मन् । सवति ऐश्वर्यहेतु र्भवतीति, यद्वा सवति सौति अमृतमुत्पादयतीति सोमः । वायुः । चन्द्रः । बलवर्धकौषधविशेषः । अमृतम् । अग्निः । अग्निवत् तेजः । वायुः, वायुवद् वेगः, अथवा चन्द्रवत् प्रजायै शान्तिप्रदगुणः । अनेन सेनापतिगुणद्वयवर्णनम् । वि । विविधम् । विध्यतम् । व्यध ताड़ने-लोट् । युवां ताडयतम् अन्यं पापात्मानम् ॥

३—यातु-धानस्य । १ । ७ । १ । पीड़ाप्रदस्य । सोम-प । आतोऽनुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ३ । इति सोम + पा पाने-क । हे अमृतस्य पातः ! जहि ।

की] (उत) और (अवरम्) नीची [शिर की] (अक्षि) आंख को (पातय) निकालदे ॥ ३ ॥

भावार्थ—[सोमप] अमृत पीने हारा अर्थात् शान्त स्वभाव यशस्वी राजा दुष्टों का नाश करे और पकड़ लावे। निन्दा फैलाने हारे मिथ्याचारी शत्रु को नष्ट भ्रष्ट करदे कि वह पापी अपने मन के भीतरी कुविचार और बाहिरी कुचेष्टा और पाप कर्म छोड़दे ॥ ३ ॥

यत्रै॒षाम॑ग्ने॒ जनि॑मानि॒ वेत्थ॒ गुहा॑ स॒ताम॒त्त्रिणा॑म् । जात॑वेदः । तांस्त्वं ब्रह्म॑णा वावृधा॒नो ज॒ह्ये॑षां श॒त॒त॒र्ह॑मग्ने ॥ ४ ॥

यत्र॑ । ए॒षाम् । अ॒ग्ने॒ । जनि॑मानि । वेत्थ॑ । गुहा॑ । स॒ताम् । अ॒त्त्रिणा॑म् । जा॒त॒ऽवे॒दः॒ । तान् । त्वम् । ब्रह्म॑णा । व॒वृ॒धा॒नः । ज॒हि । ए॒षाम् । श॒त॒ऽत॒र्ह॑म् । अ॒ग्ने॒ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे अनेक विद्या वाले वा धन वाले ! (अग्ने) अग्नि [अग्निस्वरूप राजन्] (यत्र) जहां पर (गुहा) गुफा में (सताम्) वर्त्तमान (एषाम्) इन (अत्त्रिणाम्) उदर पोषकों के (जन्मानि) जन्मों को (वेत्थ) तू जानता

हन हिंसागत्योः—लोट्। नाशय। प्र-जाम्। जनम्। मनुष्यान्। नयस्व। आनय। निः। क्षेपेण, अपवादेन। निषेधेन। स्तुवानस्य। म० २। स्तुवतः शत्रोः। पातय। पत अधोगतौ-णिच् लोट्। अधोगमय, च्यावय। परम्। अदोरप्। पा० ३।३।५७। इति पॄ-पालने पूर्त्तौ च—अप्। श्रेष्ठम्। उच्चम्। अक्षि। अशेर्नित्। उ० ३।१५६। इति अशू व्याप्तौ-क्सि। यद्वा। अक्षू व्याप्तौ-इन्। चक्षुः, नेत्रम्। अवरम्। ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च। पा० ३।३।५८। इति न+वृञ् वरणे-अप्। न व्रियत इति। निकृष्टम्, नीचम्॥

४-अग्ने। अग्निवत् तेजस्विन् राजन्। जनिमानि। जनिमृङ्भ्यामिमनिन्। उ० ४। १४९। इति जनी प्रादुर्भावे-इमनिन्। जन्मानि, उत्पत्तिकारणानि।

है। (अग्ने) हे अग्निरूप राजन्! (ब्रह्मणा) वेद ज्ञान [वा अन्न वा धन]से (वावृधानः) बढ़ता हुआ (त्वम्) तू (तान्) उनकी और (एषाम्) इनकी (शततर्हम्) सैकड़ों प्रकार की हिंसा को (जहि) नाश कर॥ ४॥

भावार्थ—अग्नि के समान तेजस्वी महाबली राजा गुप्त उपद्रवियों का खोज करे और उनको यथा नीति कड़े कड़े दण्ड देकर प्रजा में शान्ति रक्खे॥४॥

सूक्तम् ८॥

१-४॥ १, २ विश्वे देवा देवताः, ३, ४ अग्निर्देवता। त्रिष्टुप् छन्दः ११×४ अक्षराणि॥

सर्वसम्पत्तिप्रयत्नोपदेशः— सब सम्पत्तियों के लिये प्रयत्न का उपदेश॥

अस्मिन् वसु वसवो धारयन्त्विन्द्रः पूषा वरुणो मित्रो अग्निः। इममादित्या उत विश्वे च देवा उत्तरस्मिन् ज्योतिषि धारयन्तु॥ १॥

अस्मिन्। वसु। वसवः। धारयन्तु। इन्द्रः। पूषा। वरुणः। मित्रः। अग्निः। इमम्। आदित्याः। उत। विश्वे। च। देवाः। उत्-तरस्मिन्। ज्योतिषि। धारयन्तु॥ १॥

वेत्थ। विद ज्ञाने-लट्। त्वं जानासि। गुहा। इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः। पा० ३। १। १३५। इति गुहू संवरणे-क,टाप् च। गूहति रक्षतीति। सुपां सुलुक्०। पा० ७। १। ३९। इति विभक्तिलोपः। गुहायाम्, गर्त्ते, गह्वरे, गुप्तस्थाने। सताम्। अस सत्तायां-शतृ। विद्यमानानाम्। निवसताम्। अत्रिणाम्। १। ७। ३। अदनशीलानां, उदरपोषकाणाम्। जात-वेदः। १। ७। २। हे जातविद्य! ब्रह्मणा। बृंहेर्नोऽच्च। उ० ४। १४६। इति बृहि वृद्धौ-मनिन्, नकारस्य अकारः, रत्वं च। ब्रह्म अन्नम्-निघ० २। ७। तथा, धनम्-निघ० २। १०। वेदेन। वेदज्ञानेन। परमेश्वरेण। ववृधानः। वृधु वृद्धौ-लिटः कानच्, छन्दसि दीर्घः। प्रवृद्धः। जहि। म० ३। मारय। शत-तर्हम्। शतं बहुनाम—निघ० ३। १। तृह हिंसायाम्-घञ्। बहुविधहिंसनम्॥

भावार्थ—(वसवः) प्राणियों के बसानेवाले वा प्रकाशमान, श्रेष्ठ देवता [अर्थात्] (इन्द्रः) परमेश्वर वा सूर्य, (पूषा) पुष्टि करने वाली पृथिवी, (वरुणः) मेघ, (मित्रः) वायु, और (अग्निः) आग, (अस्मिन्) इस पुरुष में [मुझ में] (वसु) धनको (धारयन्तु) धारण करें। (आदित्याः) प्रकाशवाले [बड़े विद्वान् शूरवीर पुरुष] (उत च) और भी (विश्वे) सब (देवाः) व्यवहार जाननेहारे माहात्मा (इमम्) इसको [मुझको] (उत्तरस्मिन्) अति उत्तम (ज्योतिषि) ज्योति में (धारयन्तु) स्थापित करें ॥ १ ॥

भावार्थ—चतुर पुरुषार्थी मनुष्य के लिये परमेश्वर और संसार के सब पदार्थ उपकारी होते हैं । अथवा जो सूर्य, भूमि, मेघ, वायु, और अग्नि के

१—अस्मिन् । उपासके, मयि, इत्यर्थः । म० ४ । वसु । शृस्वृस्निहि-त्रप्यसि० । उ० १ । १० । इति वस आच्छादने, निवासे दीप्तौ च–उप्रत्ययः । निवासयितृ प्रकाशमानं वा धनम् । वसवः । पूर्ववत्, वस-उ । श्वसोवसीय-श्श्रेयसः । पा० ५ । ४ । ८० । अत्र वसुशब्दः प्रशस्तवाची । प्राणिनां वासयितारः, प्रकाशमानाः । प्रशस्ता देवाः, इन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः । धारयन्तु । धृञ् धारणे–चुरादिः । स्थापयन्तु । इन्द्रः । १ । २ । ३ । परमेश्वरः । सूर्यः । पूषा । श्वन्नुक्षन्पूषन्० । उ० १ । १५६ । इति पुष पुष्टौ, पूष वृद्धौ—कनिन् प्रत्ययान्तो निपात्यते । पुष्यति पूषति वा वर्धते धान्यादिभिः, पोषयति वान्नैः प्रजाः । पृथिवीनाम–निघ० १ । १ । वरुणः । १ । ३ । ३ । वृणोति व्रियते वाऽसौ वरुणः । वृष्टिजलम् । मेघः । मित्रः । १ । ३ । २ । डुमिञ् प्रक्षेपणे–क्त । वायुः । अहरभिमानी देवः–इतिसायणः । अग्निः । १ । ६ । २ । और्वजाठरवैद्युतादि-रूपः प्रकाशः ।, वह्निः । इमम् । उपासकम् । आदित्याः । अघ्न्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । इति आङ्+डुदाञ् दाने, वा दीपी दीप्तौ–यक् । निपातितः । यद्वा । दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः । पा० ४ । १ । ८५ । इति अदिति–ण्य-प्रत्ययः, अपत्यार्थे । अदितिः=पृथिवी–निघ० १ । १ । वाक्–निघ० १ । ११ । अदितिरदीना देवमाता—निरु० ४ । २२ । अथास्य [आदित्यस्य] कर्म रसादानं रश्मिभिश्च रसधारणं यच्च किंचित् प्रवल्हितमादित्यकर्मैव तच्चन्द्रमसा वायुना संवत्सरेणेति संस्तवः । निरु० ७ । ११ । आदातारः, ग्रहीतारो गुणानाम् । प्रकाशमानाः । भूमिपुत्राः, देशहितैषिणः । सरस्वतीपुत्राः, विद्वांसः । सूर्य-

समान उत्तम गुण वाले और दूसरे शूर वीर विद्वान् लोग (आदित्याः) जो विद्या के लिये और धरती अर्थात् सब जीवों के लिये पुत्र समान सेवा करते हैं, और जो सूर्य के समान उत्तम गुणों से प्रकाशमान हैं, वे सब नरभूषण पुरुषार्थी मनुष्य के सदा सहायक और शुभचिन्तक रहते हैं ॥ १ ॥

अस्य देवाः प्रदिशि ज्योतिरस्तु सूर्यो अग्निरुत वा हिरण्यम् । सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥ २ ॥

अस्य । देवाः । प्र-दिशि । ज्योतिः । अस्तु । सूर्यः । अग्निः । उत । वा । हिरण्यम् । स-पत्नाः । अस्मत् । अधरे । भवन्तु । उत्-तमम् । नाकम् । अधि । रोहय । इमम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे व्यवयहार जाननेहारे महात्माओ ! (अस्य) इसके [मेरे] (प्रदिशि) शासन में (ज्योतिः) तेज, [अर्थात्] (सूर्यः) सूर्य, (अग्निः) अग्नि, (उत वा) और भी (हिरण्यम्) सुवर्ण (अस्तु) होवे । (सपत्नाः) सब वैरी (अस्मत्) हम से (अधरे) नीचे (भवन्तु) रहें । (उत्तमम्) अति ऊंचे (नाकम्) सुख में (एनम्) इसको [मुझ को] (अधि) ऊपर (रोहय=०-यत) तुम चढ़ाओ ॥ २ ॥

वत् तेजस्विनः । देवाः । १ । ४ । ३ । दिवु व्यवहारे-अच् । व्यवहारिणः । प्रकाशमानाः । उत्-तरस्मिन् । उत्कृष्टे । ज्योतिषि । द्युतेरिसिन्नादेश्च जः । उ० २ । ११० । इति द्युत दीप्तौ-इसिन्, दस्य जः । तेजसि, प्रकाशे । धारयन्तु । स्थापयन्तु ॥

२—अस्य । उपासकस्य । देवाः । म० १ । हे प्रकाशमया व्यवहारिणो वा । प्रदिशि । सम्पदादिभ्यः क्विप् । वा० पा० ३ । ३ । ९४ । प्रपूर्वात् दिश दाने, आज्ञापने—क्विप् । प्रदेशने, शासने, आज्ञायाम् । ज्योतिः । म० १ । तेजः, प्रकाशः । सूर्यः । १ । ३ । ५ । सरणशीलः, प्रेरकः । ग्रहविशेषः । अग्निः ।

भावार्थ—प्रकाश वाले, सूर्य. अग्नि की और सुवर्ण आदि की विद्यायें, अथवा सूर्य, अग्नि और सुवर्ण के समान प्रकाश वाले लोग, पुरुषार्थी मनुष्य के अधिकार में रहें और वह यथायोग्य शासन करके सर्वोत्तम सुख भोगे ॥ २ ॥

येनेन्द्राय समभरः पयांस्युत्तमेन ब्रह्मणा जातवेदः।
तेन त्वमग्न इह वर्धयेमं सजातानां श्रैष्ठ्य आ धेह्येनम् ॥ ३ ॥

येन । इन्द्राय । सम्-अभरः । पयांसि । उत्-तमेन । ब्रह्मणा । जात-वेदः । तेन । त्वम् । अग्ने । इह । वर्धय । इमम् । स-जातानाम् । श्रैष्ठ्ये । आ । धेहि । एनम् ॥ ३ ॥

म० १ । दावानलजाठरवैद्युतादिरूपः पावकः। हिरण्यम् । हर्यतिः कान्तिकर्मा-निघ० २। ६। हर्यतेः कन्यन् हिर् च। उ० ४ ।४४। इति हर्य्य गतिकान्त्योः-कन्यन्, हिरादेशः। हर्यते काम्यते तत्। यद्वा, हृञ् हरणे-कन्यन् हिर् च। ह्रियते जनाज्जनं व्यवहारार्थम्, अथवा द्रव्यस्वभावत्वात् नैकत्रास्य स्थितिः। हिरण्यनामसु-निघ० १। २। हर्यतेः प्रेप्साकर्मणः—निरु० २। १०। सुवर्णम्। तेजः। स-पत्नाः। सह+पत् पतने ऐश्ये च-न प्रत्ययः, सहस्य सः। सह पतन्ति यतन्ते एकार्थे, यद्वा, सह पत्यन्ते ईश्वरा भवन्ति। सह पतित्ववन्तः। शत्रवः। अधरे। न+धृञ्-अच्, नञ्समासः, न ध्रियतेऽसौ। नीचाः, हीनाः, अपकृष्टाः। उत्-तमम्। उत्+तमप्, अतिशयेन उत्कृष्टम्। यद्वा, उत्+तमु इच्छायाम्-अच्। भद्रम्, उत्कृष्टम्। नाकम्। कं सुखम् अकं दुःखम्, तन्नास्त्यत्रेति नाकः। नभ्राण्नपान्नवेदानासत्या०। पा० ६। ३। ७५। इति नञः प्रकृतिभावः। अथवा पिनाकादयश्च। उ० ४। १५। इति णी प्रापणे-आकंप्रत्ययः, टिलोपः। नाक आदित्यो भवति नेता भासां ज्योतिषां प्रणयोऽथ द्यौः कमिति सुखनाम तत्प्रतिषिद्धं प्रतिषिध्यते—निरु० २। १४। स्वर्गम्। सुखम्। आकाशम्। आदित्यलोकम्। अधि। उपरि। रोहय। रुह जन्मनि, प्रादुर्भावे-णिच्-लोट्। एकवचनं बहुवचने। उन्नयत यूयम्। इमम्। उपासकम्॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे विज्ञानयुक्त, परमेश्वर! तूने (येन उत्तमेन ब्रह्मणा) जिस उत्तम वेद विज्ञान से (इन्द्राय) पुरुषार्थी जीव के लिये (पयांसि) दुग्धादि रसों को (समभरः) भर रक्खा है। (तेन) उसी से (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर! (त्वम्) तू (इह) यहां पर (इमम्) इसे (मुझे) (वर्धय) वृद्धि युक्त कर, (सजातानाम्) तुल्य जन्म वाले पुरुषों में (श्रैष्ठ्ये) श्रेष्ठ पद पर (एनम्) इसको [मुझ को] (आ) यथा विधि (धेहि) स्थापित कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर पुरुषार्थियों को सदा पुष्ट और आनन्दित करता है। मनुष्य को प्रयत्न करके अपनी श्रेष्ठता और प्रतिष्ठा बढ़ानी चाहिये ॥३॥

(अग्नि) शब्द ईश्वरवाची है. इस में यह प्रमाण है—मनु १२। १२३।

एतमेके वदन्त्यग्निमनुमन्ये प्रजापतिम्

इन्द्रमेके ऽपरे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥ १ ॥

इसको कोई अग्नि, दूसरे मनु, और प्रजापति, कोई इन्द्र, दूसरे प्राण और नित्य ब्रह्म कहते हैं ॥

३—**येन** । ब्रह्मणा । **इन्द्राय** । १ । २ । ३ । जीवाय, पुरुषार्थिने जीवाय । **सम्-अभरः** । डुभृञ् भरणे, पोषणे-लङि सिप् । सम्यग् भृतवानसि पोषित-वानसि । **पयांसि** । १ । ४ । १ । दुग्धानि, दुग्धघृतादिपदार्थान् । **उत्-तमेन** । म० २ । अतिश्रेष्ठेन । **ब्रह्मणा** । १ । ८ । ४ । वेदज्ञानेन । **जात-वेदः** । १ । ७ । २ । हे जातप्रज्ञान, परमेश्वर । **तेन** । ब्रह्मणा । **अग्ने** । हे ज्ञानस्वरूप पर-मेश्वर ॥ **इह** । अत्र, अस्मिन् जन्मनि । **वर्धय** । वृधु-णिच् । समर्धय । **इमम्** । उपासकं, माम् । **स-जातानाम्** । समान + जनी प्रादुर्भावे—क्त । जन-सनखनां सन्झलोः । पा० ६ । ४ । ४२ । इति आत्वम् । समानस्य छन्दस्य-मूर्ध० । पा० ६ । ३ । ८४ । इति समासे समानस्य सभावः । समानजन्मनां स्वकुटुम्बिनां मध्ये । **श्रैष्ठ्ये** । गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च । पा० ५ । १ । १२४ । इति श्रेष्ठ-ष्यञ् । श्रेष्ठत्वे, प्रधानत्वे । **आ** । समन्तात्-यथाविधि । **धेहि** । डुधाञ् धारणपोषणयोः—लोट् । धारय, स्थापय । **एनम्** । उपास-कम ॥

ऐषां यज्ञमुत वर्चो ददेऽहं रायस्पोषमुत चित्ता-
न्यग्ने। सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि
रोहयेमम् ॥ ४ ॥

आ। एषाम्। यज्ञम्। उत। वर्चः। ददे। अहम्। रायः।
पोषम्। उत। चित्तानि। अग्ने। स-पत्नाः। अस्मत्। अधरे।
भवन्तु। उत्-तमम्। नाकम्। अधि। रोहय। इमम्॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे परमेश्व! (एषाम्) इन के [अपने लोगों] के लिये (यज्ञम्) सत्कार, (उत) और (वर्चः) तेज, (रायः) धन की (पोषम्) बढ़ती (उत) और (चित्तानि) मानसिक बलों को (अहम्) मैं (आददे) ग्रहण करता हूं। (सपत्नाः) वैरी लोग (अस्मत्) हम से (अधरे) नीचे (भवन्तु) होवें, (उत्तमम्) अति ऊंचे (नाकम्) सुख में (एनम्) इसको [मुझे] (अधि) ऊपर (रोहय) चढ़ा ॥ ४ ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् नीति निपुण पुरुष अपने पक्षवालों के किये हुये उपकार, और सत्कार को सधन्यवाद स्वीकार करे और विपक्षियों को नीचा दिखा कर अपनी प्रतिष्ठा बढ़ावे ॥ ४ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्ध मन्त्र २ का उत्तरार्ध है ॥

४—एषाम्। स्वपुरुषाणाम्। यज्ञम्। यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्। पा० ३। ३। ९०। इति यज देवार्चादानसङ्गतिकरणेषु—नङ्। पूजाम्, कीर्तिम्। वर्चः। सर्वधातुभ्योऽसुन्। उ० ४। १८९। इति वर्च दीप्तौ—असुन्। नित्त्वात् आद्युदात्तः। वर्चः; अन्ननाम-निघ० २। ७। रूपम्। तेजः। आ—ददे। आङ् पूर्वात् डुदाञ् ग्रहणे-लट्। अहं गृह्णामि, स्वीकरोमि। रायः। रातेर्डैः। उ० २। ६६। इति रा दाने डै प्रत्ययः, रै। धनस्य। पोषम्। पुष पुष्टौ—घञ्। पोषणं वर्धनं समृद्धिम्। रायस्पोषम्। षष्ठ्याः पतिपुत्र०। पा० ८। ३। ५३। इति विसर्गस्य सः। चित्तानि। चित ज्ञाने—क्त। मनांसि, नामसबलानि। अग्ने म० ३। हे परमेश्वर। सपत्ना..........इमम्। व्याख्यातम् २॥

सूक्तम् ॥ १० ॥

१—४ ॥ वरुणो देवता । १, २ त्रिष्टुप् ३, ४ अनुष्टुप् ।

वरुणस्य क्रोधः प्रचण्डः—वरुण का क्रोध प्रचण्ड है ॥

अयं देवानामसुरो वि राजति वशा हि सत्या वरुणस्य राज्ञः । ततस्परि ब्रह्मणा शाशदान उग्रस्य मन्योरुदिमं नयामि ॥ १ ॥

अयम् । देवानाम् । असुरः । वि । राजति । वशा । हि । सत्या । वरुणस्य । राज्ञः । ततः । परि । ब्रह्मणा । शाशदानः । उग्रस्य । मन्योः । उत् । इमम् । नयामि ॥१॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (देवानाम्) विजयी महात्माओं का (असुरः) प्राणदाता [वा प्रज्ञावान् वा प्राणवान्] परमेश्वर (विराजति) बड़ा राजा है, (वरुणस्य) वरुण अर्थात् अति श्रेष्ठ (राज्ञः) राजा परमेश्वर की (वशा) इच्छा (सत्या) सत्य (हि) ही है। (ततः) इस लिये (ब्रह्मणा) वेद ज्ञान से (परि) सर्वथा (शाशदानः) तीक्ष्ण होता हुआ मैं (उग्रस्य) प्रचंड परमेश्वर के (मन्योः) क्रोधसे (इमम्) इस को [अपने को] (उत् नयामि) छुड़ाता हूं ॥ १ ॥

१—अयम् । पुरोवर्ती । देवानाम् । १ । ४ । ३ । दिव्यगुणवतां विदुषाम् । असुरः । असेरुरन् । उ० १ । ४२ । इति असु क्षेपे-उरन् । ञ्नित्यादिर्नित्यम् । पा० ६ । १ । १९७ । इति नित्वाद् आद्युदात्तः ॥ अस्यति शत्रून् । यद्वा, अस गतिदीप्त्यादानेषु-उरन् । असति गच्छति व्याप्नोति सर्वत्र, दीप्यते स्वयम्, आदत्ते वा साधून् । यद्वा । असुं प्राणं राति ददातीति, असु+रा दानादानयोः-क । मेघनाम-निघ० १ । १० । असुरत्वं प्रज्ञावत्त्वं वानवत्त्वं वापिवासु रितिप्रज्ञानामास्यत्यनर्थानस्ताश्चास्यामर्था वसुरत्वमादिलुप्तम्-निरु० १० । ३४ । क्षेप्ता । शूरः । व्यापकः । दीप्यमानः । ग्रहीता । प्राणदाता । प्रज्ञावान् । यद्वा, मेघवद् उदारः । वरुणविशेषणमेतत् । वि । विशेषेण । रजाति । राजृ दीप्तौ । दीप्यते, ईष्टे ईश्वरो भवति-निघ० २ । २१ । वशा । वशस्पृहि-अप्, टाप् । इच्छा, स्पृहा ।

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के क्रोध से डर कर मनुष्य पाप न करें और सदा उसे प्रसन्न रक्खें ॥ १ ॥

नम॑स्ते राजन् वरुणास्तु मन्यवे॒ विश्वं॒ ह्यु॑ग्र निचिकेषि द्रुग्धम्। सहस्र॑मन्यान् प्र सु॑वामि साकं शतं जीवाति शरदुस्तवायम् ॥ २ ॥

नमः । ते । राजन् । वरुण । अस्तु । मन्यवे॑ । विश्वम् । हि । उग्र । नि-चिकेषि॑ । द्रुग्धम् । सहस्र॑म् । अन्यान् । प्र । सुवामि । साकम् । शतम् । जीवाति । शरदः । तव॑ । अयम् ॥ २ ॥

भावार्थ—(वरुण) हे अतिश्रेष्ठ (राजन्) बड़े ऐश्वर्य वाले, राजा, (ते) तुझ (मन्यवे) क्रोधरूप को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे, (उग्र) हे प्रचंड ! तू (विश्वम्) सब (हि) ही (द्रुग्धम्) द्रोह को (नि-चिकेषि) सदा जानता है। [मैं] (सहस्रम्)सहस्र (अन्यान्)दूसरे जीवों को (साकम्)

हि । अवश्यम् । यस्मात् । सत्या । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ इति सत्+यत्. टाप् । सद्भ्यो हिता, अवितथा । वरुणस्य । १ । ३ । ३ । व्रियते स्वीक्रियते स वरुणः । अतिश्रेष्ठस्य । परमेश्वरस्य । राज्ञः । राजति, ऐश्वर्यकर्मा-निघ० २ । २१ । कनिन् युवृषितक्षिराजि० । उ० १ । १५६ । इति राजृ दीप्तौ-ऐश्वर्ये च-कनिन् । स्वामिनः, अधिपतेः, ईश्वरस्य । ब्रह्मणा । १ । ८ । ४ । वेदज्ञानेन । शाशदानः । शद्लृ शातने यङ्लुगन्ताद् छन्दसि शानच् । शाशद्यमानः—निरु० ६ । १६ । अत्यर्थं तीक्ष्णः । विजयी । उग्रस्य । ऋज्रेन्द्राग्र वज्र० । उ०२ । २८ । इति उच समवाये-रक् । उच्यति क्रुधा सम्बध्यते । उत्कटस्य, प्रचण्डस्य । मन्योः । यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच् । उ० ३ । २० । इति मन ज्ञाने गर्वे, धृतौ च-भावे कर्तरि वा-युच् । मन्युर्मन्यतेर्दीप्ति-कर्मणः क्रोधकर्मणो वधकर्मणो वा-निरु०१० । २९ । क्रोधात् । उत्+नयामि । उपसर्गस्य व्यवधानम् । ऊर्ध्वं गमयामि, मोचयामीत्यर्थः ॥

२— राजन् । म० १ । हे ऐश्वर्यवन् । वरुण । म० १ । हे परमेश्वर । मन्यवे । म० १ । क्रोधाय, क्रोधरूपाय । नि-चिकेषि । कि ज्ञाने—लट्,

एक साथ (प्रसुवामि) आगे बढ़ाता हूं, (ते) तेरा (अयम्) यह [सेवक] (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतुओं तक (जीवाति) जीता रहे ॥ २ ॥

भावार्थ—सर्वज्ञ परमेश्वर के महा क्रोध से भय मानकर मनुष्य पातकों से बचें और सब के साथ उपकार करके जीवन भर आनन्द भोगें ॥ २ ॥

यदु॑वक्थानृ॑तं जि॒ह्वया॑ वृजि॒नं ब॒हु ।
राज्ञ॑स्त्वा स॒त्यध॑र्मणो मुञ्चामि॒ वरु॑णाद॒हम् ॥ ३ ॥

यत् । उ॒वक्थ॑ । अनृ॑तम् । जि॒ह्वया॑ । वृ॒जि॒नम् । ब॒हु ।
राज्ञः॑ । त्वा॒ । स॒त्य-ध॑र्मणः । मु॒ञ्चामि॑ । वरु॑णात् । अ॒हम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे आत्मा !] (यत्) जो (बहु) बहुत सा (अनृतम्) असत्य और (वृजिनम्) पाप (जिह्वया) जिह्वा से (उवक्थ) तू बोला है। (अहम्) मैं (त्वा) तुझ को (सत्यधर्मणः) सच्चे धर्मात्मा वा न्यायी, (वरुणात्) सब में श्रेष्ठ परमेश्वर (राज्ञः) राजा से (मुञ्चामि) छुड़ाता हूं ॥ ३ ॥

जुहोत्यादिः, शपः श्लुः । त्वं नितरां जानासि । द्रुग्धम् । द्रुह जिघांसायाम्—भावे—क्त । द्रोहम्, अपराधम् । सहस्रम् । सहो बलमस्त्यस्मिन्, सहस्+रप्रत्ययो मत्वर्थे । बहुनाम, निघ० ३ । १ । बहून्, अनेकान् । अन्यान् । माछाशासिभ्यो यः । उ० ४ । १०९ । इति अन प्राणने, जीवने—य प्रत्ययः । अनिति जीवतीति अन्यः । जीवान्, प्राणिनः । इतरान् वा । प्र+सुवामि । षूङ् प्रेरणे, तुदादिः, ङित्वाद् गुणप्रतिषेधे उवङ् । प्रकर्षेण प्रेरयामि, ऊर्ध्वं नयामि, उपकरोमि । साकम् । इण्भीकापा०। उ०३।४३। इति षो अन्तकर्मणि-कन् । सह,सगम् । शतम् । बहुनाम, निघ० ३ । १ । बहीः । जीवाति । जीव प्राणधारणे—लेट्, लेटोऽडाटौ । पा० ३ । ४ । ९४ । इति आडागमः । जीवेत् । शरदः । शॄदॄभसोऽदिः । उ० १ । १३० । इति शॄ हिंसायाम्—अदि । कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे । पा० २ । ३ । ५ । इति द्वितीया । आश्विनकार्तिक-मासयुक्तान् ऋतुविशेषान् । संवत्सरान् ॥

३—यत् । वचनम् । उवक्थ । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि—लिट्, त्वम् उक्तवानसि । अनृतम् । न ऋतम् । असत्यं । मिथ्याभाषणम् । जिह्वया ।

भावार्थ—जो मनुष्य मिथ्यावादी दुराचारी भी होकर उस प्रभु की शरण लेते और सत्कर्मों में प्रवृत होते हैं, वे लोग उस जगदीश्वर की न्याय व्यवस्था के अनुसार दुःख पाश से छूटकर आनन्द भोगते हैं॥ ३॥

मुञ्चामि त्वा वैश्वानरादर्णवान्महतस्परि ।
सजातानुग्रेहा वद ब्रह्म चापं चिकीहि नः ॥ ४ ॥

मुञ्चामि । त्वा । वैश्वानरात् । अर्णवात् । महतः । परि ।
स-जातान् । उग्र । इह । आ । वद । ब्रह्म । च । अप ।
चिकीहि । नः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे आत्मा !] (महतः) विशाल (अर्णवात्) समुद्र के समान गंभीर (वैश्वानरात्) सब नरों के हित कारक वा सब के नायक परमेश्वर से (त्वा) तुझ को (परि मुञ्चामि) मैं छुड़ाता हूं । (उग्र) हे प्रचण्ड स्वभाव [परमेश्वर !] (सजातान्) [मेरे] तुल्य जन्म वालों को (इह) इस विषय में (आवद) उपदेश कर (च) और (नः) हमारे (ब्रह्म) वैदिक ज्ञान को (अप) आनन्द से (चिकीहि) तू जान ॥ ४ ॥

शेवायहजिह्वाग्रीवाऽप्वामीवाः । उ० । १ । १५४ । इति जि जये—वन्, हुक् आगमे निपातितः । जयति रसमनया । रसनया । वृजिनम् । वृजेः किच्च । उ० २ । ४७ । इति वृजी वर्जने-इनच्, स च कित् । पापम् । बहु । अधिकम् । राज्ञः । म० १ । श्रेष्ठात् । त्वा । त्वाम् । सेवकम्, आत्मानम् । सत्य-धर्मणः । धर्मादनिच् केवलात् । पा० ५ । ४ । १२४ । इति सत्य + धर्म + अनिच्, बहुव्रीहौ । यथार्थन्यायस्वभावात् मुञ्चामि । मुच्लृ मोक्षे-लट् । मोचयामि, वियोजयामि । वरुणात् । म० १ । श्रेष्ठात् परमेश्वरात् । अहम् । उपासकः ॥

४—परि+मुञ्चामि । म० ३ । सर्वथा मोचयामि । वैश्वानरात् । नॄ प्रापणे-अच् । नृणातीति नरः पुरुषः । विश्वश्चासौ नरश्चेति । नरे संज्ञायाम् । प० ६ । ३ । १२९ । इति विश्वस्य दीर्घः । विश्वानर एव वैश्वानरः । स्वार्थे अण् । यद्वा । तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । यद्वा । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । इति

भावार्थ—मनुष्य पापकर्म छोड़ने से सर्व हितकारी परमेश्वर के कोप से मुक्त होते हैं। परमात्मा सब प्राणियों को उपदेश करता और सब की सत्य भक्ति को स्वीकार कर यथार्थ आनन्द देता है ॥ ४ ॥

सूक्तम् ॥ ११ ॥

१—६ ॥ पूषा देवता ! १ विराट् स्थाना त्रिष्टुप् ६ + १० + ६ + ११ = ३६, २, ३ अनुष्टुप् ८ × ४, ४-६ पंक्तिः ८ × ५ ॥

सृष्टि विद्या वर्णनम्—सृष्टि विद्या का वर्णन ॥

वषट् ते पूषन्नस्मिन्त्सूतावर्यमा होता कृणोतु वेधाः । सिस्रतां नार्यृतप्रजाता वि पर्वाणि जिहतां सूतवा उ ॥ १ ॥

वषट् । ते । पूषन् । अस्मिन् । सूतौ । अर्यमा । होता । कृणोतु । वेधाः । सिस्रताम् । नारी । ऋत-प्रजाता । वि । पर्वाणि । जिहताम् । सूतवै । ऊं इति ॥ १ ॥

अण् । वैश्वानरः कस्माद् विश्वान् नरान् नयति विश्व एनं नरा नयन्तीति वापि वा विश्वानर एव स्यात् प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि तस्य वैश्वानरः-निरु०७ । २१ । सर्वनायकात् । सर्वोपास्यात् । सर्वनरहितात् परमेश्वरात् । अर्णवात् । केशाद् वोऽन्यतरस्याम् । पा० ५ । २ । १०९ । अत्र । अर्णसोलोपश्च । इति वार्त्तिकम् । अर्णस् + व, सलोपः । अर्णांसि जलानि सन्त्यस्मिन् । समुद्रात्, समुद्रवद् गम्भीरस्वभावात् । महतः । वर्तमाने पृषद् बृहन् महज्जगच्छतृ वच्च । उ० २ । ८४ । इति मह पूजायाम्-अति । वड़ात् । विशालात् । सजातान् । समानजन्मनः पुरुषान् । उग्र । म० १ । हे प्रचण्ड, महाक्रोधिन् वरुण ! आ+वद । समन्तात् कथय, उपदिश । ब्रह्म । १ । ८ । ४ । वेदविज्ञानम् । अप । आनन्दे — इति शब्दस्तोममहानिधौ । चिकीर्हि । मं० २ । कि ज्ञाने-लोट् । जानीहि ॥

भाषार्थ—(पूषन्) हे सर्वपोषक, परमेश्वर ! (ते) तेरे लिये (वषट्) यह आहुति [भक्ति] है। (अस्मिन्) इस समय पर (सूतौ) सन्तान के जन्म को (अर्यमा) न्याय-कारी, (होता) दाता, (वेधाः) सब का रचने वाला ईश्वर (कृणोतु) करे। (ऋतप्रजाता) पूरे गर्भवाली (नारी) नरका हित करने हारी स्त्री (सिस्रताम्) सावधान रहे, (पर्वाणि) इस के सब अङ्ग (उ) भी (सूतवै) सन्तान उत्पन्न करने के लिये (विजिहाताम्) कोमल होजावें ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रसव समय होने पर पति आदि विद्वान् लोग परमेश्वर की भक्ति के साथ हवनादि कर्म प्रसूता स्त्री की प्रसन्नता के लिये करें और वह स्त्री सावधान होकर श्वास प्रश्वास आदि द्वारा अपने अंगो को कोमल रक्खे जिस से बालक सुख पूर्वक उत्पन्न होवे ॥ १ ॥

१—**वषट्**। वह प्रापणे—डषटि। इति शब्दस्तोममहानिधौ। आहुतिः, हविर्दानम्। भक्तिः। स्वाहा। **पूषन्**। १। ६। १। पुष्णातीति पूषा। हे सर्वपोषक, परमेश्वर। **अस्मिन्**। अस्मिन् काले, इदानीम्। **सूतौ**। षूङ् प्राणिप्रसवे-क्तिन्। सुपां सुपो भवन्तीति वक्तव्यम्। वार्तिकम्, पा० ७। १। ३९। इति द्वितीयार्थे सप्तमी। प्रसवकर्म, जन्म। **अर्यमा**। ऋ गतौ-यत्। अर्यः श्रेष्ठः। श्वन्नुक्षन्पूषन्०। उ० १। १५९। इति अर्य+मा माने-कनिन्। अर्य्यान् श्रेष्ठान् मिमीते मानयतीति। यथार्थज्ञाता, न्यायकारी **होता**। नप्तृनेष्टृत्वष्टृ होत्रिति। उ०२। ९६। इति हु दानादानादनेषु। यद्वा ह्वेञ् आह्वाने-तृन्। नित्त्वाद् आद्युदात्तः। दाता। होमकर्त्ता, ऋत्विक्, आह्वाता। **कृणोतु**। कृवि हिंसाकरणयोः-लोट्। भवान् पूषा उपकरोतु। **वेधाः**। विधाञो वेधच। उ० ४। २२५। वि+धाञ् धारणपोषणदानेषु—असि, वेधादेशः। विशेषेण दधातीति। ब्रह्मा, चतुर्वेदवेत्ता। मेधावी-निघ० ३। १५। विधाता, रचयिता। **सिस्रताम्**। सृ गतौ - लोट्, आत्मनेपदम् जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः। अभ्यासस्य इत्वम् पुनरपि विकारणः शः। गच्छतु, सावधाना सुखप्रसूता वा भवतु। **नारी**। ऋतो ऽञ्। पा० ४। ४। ४९। इति नृ नीतौ-अञ्।। नृणाति नयतीति नरः। नराच्चेति वक्तव्यम्। तत्र वार्त्तिकम्। नर-अञ्। शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्। पा० ४। १। ७३। इति ङीन्। नुर्नरस्य वा धर्म्या। नर धर्माचारयुक्ता। स्त्री, वधूः। **ऋत-प्रजाता**। अर्श आदिभ्योऽच्। पा० ५। २। १२७।

टिप्पणी—इस सूक्त में माता से सन्तान उत्पन्न होने का उदाहरण देकर बताया गया है कि मनुष्य सृष्टि विद्या के ज्ञान से ईश्वर की अनन्त महिमा का विचार करके परस्पर उपकारी बनें ॥

चत॑स्रो दि॒वः प्र॒दिश॒श्चत॑स्रो॒ भूम्या॑ उ॒त ।
दे॒वा गर्भं॒ समै॑रय॒न् तं व्यू॑र्णुवन्तु॒ सूत॑वे ॥ २ ॥

चत॑स्रः । दि॒वः । प्र॒-दिशः॑ । चत॑स्रः । भूम्याः॑ । उ॒त । दे॒वाः । गर्भ॑म् । सम् । ऐ॒र॒य॒न् । तम् । वि । ऊ॒र्णु॒व॒न्तु॒ । सूत॑वे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(दिवः, आकाश की (चतस्रः) चारों (उत) और (भूम्याः) भूमि की (चतस्रः) चारो (प्रदिशः) दिशाओं ने और (देवाः) दिव्य गुण वाले [अग्नि वायु आदि] देवताओं ने (गर्भम्) गर्भ को (समैरयन्) संगत किया है, वे सब (तम्) उस गर्भ को (सूतवे) उत्पन्न होने के लिये (व्यूर्णुवन्तु) प्रस्तुत करें ॥ २ ॥

भावार्थ—अग्नि आदि दिव्य पदार्थों के यथार्थ संयोग से ईश्वरीय नियम के अनुसार यह गर्भ स्थिर हुआ है मनुष्य उन तत्त्वों की अनुकूलता को, माता और गर्भ में, स्थिर रखने के लिये सदा प्रयत्न करते रहें जिससे बालक बलवान् और नीरोग होकर पूरे समय पर उत्पन्न होवे ॥ २ ॥

इति ऋत+प्रजात-अच्, टाप्। ऋतं सत्यं प्रजातं प्रजननमस्त्यस्याः। सत्यप्रसवा, उचितसमयप्रसूता, जीवदपत्या। **पर्वाणि** । पर्व गतौ-कनिन्। यद्वा स्नामदिपद्यर्त्तिपृशकिभ्यो वनिप्। उ० ४। ११३। इति पृ पूर्त्तौ पालने च-वनिप्। शरीरग्रन्थयः, देहसन्धयः। **वि+जिहताम्** । ओहाङ् गतौ-लोट् बहुवचनम्, जहोत्यादिः। विशेषेण गच्छन्तु कोमलानि सुखप्रसवयोग्यानि भवन्तु। **सूतवै** । तुमर्थे सेसेन्०। पा०३।४।६। इति षूङ् प्राणिगर्भविमोचने तवै प्रत्ययः। प्रसवार्थम् ॥

२—**चतस्रः** । त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ। पा० ७। २। ९९। इति चतुर्शब्दस्य जसि चतस्रादेशः। अचिर ऋतः। पा० ७। २। १००। इति रेफादेशः। चतुःसंख्याकाः। **दिवः** । १। ११। २। आकाशस्य। **प्र-दिशः** ।

टिप्पणी—देव वा देवता का अर्थ दिव्य वा अच्छे गुण वाला है । यजुर्वेद १४ । २० में यह देवता कहे हैं ।

अग्निर्देवता । वातो देवता । सूर्यो देवता। चन्द्रमा देवता । वसवो देवता । रुद्रो देवता । आदित्या देवता । मरुतो देवता । विश्वे देवा देवता । बृहस्पतिर्देवता । इन्द्रो देवता । वरुणो देवता ॥

अग्नि १,वायु २ सूर्य ३,चन्द्रमा ४,सबके बसाने वाले अन्नादि पदार्थ ५,दुःख दूर करने वाले जीव वा पदार्थ ६, प्रकाश करने वाले पदार्थ अथवा अदिति, विद्या वा पृथिवी के पुत्र के समान सेवा करने वाले पुरुष ७, दुष्टों के मारने वाले शूर वीर पुरुष ८, सब अच्छे गुण वाले विद्वान् ९, बड़े वेद वचनों वा ब्रह्माण्डों का रक्षक परमेश्वर १०, ऐश्वर्य वा धन ११, और जल १२; यह सब (देवता) उत्तम गुण वाले हैं ॥

सूषा व्यूर्णोतु वि योनिं हापयामसि ।
अथया सूषणे त्वमव त्वं विष्कले सृज ॥ ३ ॥

सूषा । वि । ऊर्णोतु । वि । योनिम् । हापयामसि ।
अथय । सूषणे । त्वम् । अव । विष्कले । सृज ॥ ३ ॥

---

१ । ६ । २ । प्रकृष्टा दिशः । प्राच्याद्याः प्रधानदिशः । भूम्याः । भुवः कित् । उ० ४ । ४५ । इति भू सत्तायां-मि । कृदिकारादक्तिनः । इति पक्षे ङीष् । पृथिव्याः, भूलोकस्य । देवाः । १ । ४ । ३ । दिव्यपदार्था अग्न्यादयः । विद्वांसश्च । गर्भम् । अर्त्तिगृभ्यां भन् । उ० ४ । १५२ । इति गॄ विज्ञापने, निगरणे च भन् । गीर्यते जीवसंचितकर्मफलदात्रा ईश्वरेण प्रकृतिबलात् जठरगह्वरे स्थाप्यते पुरुषशक्रयोगेण स गर्भः । भ्रूणम्, उदरस्थसन्तानम् । सम् । सम्यक्, यथाविधि । ऐरयन् । ईर गतौ लङ् । संगतमकुर्वन् । वि+ऊर्णुवन्तु । ऊर्णुञ् आच्छादने-लोट् । विवृतं प्रस्तुतं कुर्वन्तु । सूतवे । तुमर्थे सेसेन से० । पा० ३ । ४ । ९ । इति षूङ् प्राणिगर्भविमोचने-तवेन् । नित्त्वात् आद्युदात्तः । प्रसवितुम् ॥

भाषार्थ—(सूषा) सन्तान उत्पन्न करने वाली माता (व्यर्णोतु) अङ्गों को कोमल करे (योनिम्) प्रसूतिका गृह को (विहापयामसि) हम प्रस्तुत करते हैं। (सूषणे) हे जन्म देने हारी माता ! (त्वम्) तू (श्रथय) प्रसन्न हो। (विष्कले) हे वीर स्त्री ! (त्वम्) तू (अव सृज) [बालक को] उत्पन्न कर॥३॥

भावार्थ—गर्भ के पूरे दिनों में गर्भिणी की शारीरिक और मानसिक अवस्था को विशेष ध्यान से स्वस्थ रक्खें। माता के प्रसन्न और सुखी रहने से बालक भी प्रसन्न और सुखी होता है। प्रसूतिका गृह भी पहिले से देश, काल विचार कर प्रस्तुत रक्खें कि प्रसूता स्त्री और बालक भले प्रकार स्वस्थ और हृष्ट पुष्ट रहें॥ ३॥

नेवं मांसे न पीवसि नेवं मज्जस्वाहतम्।
अवैतु पृश्नि शेवलं शुने जराय्वत्तवेऽवजरायु पद्यताम्॥ ४॥

न-इव। मांसे। न। पीवसि। न-इव। मज्ज-सु। आ-हतम्। अव। एतु। पृश्नि। शेवलम्। शुने। जरायु। अत्तवे। अव। जरायु। पद्यताम्॥ ४॥

३—**सूषा**। सूषति प्रसवतीति। षूष, सूष वा प्रसवे-अच्, टाप्। सवित्री जननी, माता। **वि+ऊर्णोतु**। म० १। अङ्गानि प्रस्तुतानि करोतु। **योनिम्**। वहिश्रिश्रुयुद्रुग्लाहात्वरिभ्यो नित्। उ० ४। ५१। इति यु मिश्रणामिश्रणयोः-नि। योनिर्गृहनाम-निघ० ३। ४। गृहम्। प्रसूतिकागृहम्। **वि+हापयामसि**। ओ हाङ् गतौ—णिच्। अर्तिह्री०। पा० ७। ३। ३६। इति पुगागमः। इदन्तो मसिः। पा० ७। १। ४६। इकारः। विहापयामः। विशेषेण गमयामः। प्रस्तुतं कुर्मः। **श्रथय**। श्रथ यत्ने प्रहर्षे च, चुरादिः। यतस्व। हृष्टा भव। **सूषणे**। संपदादिभ्यः क्विप्। वा० पा० ३। ३। ९४। इति षूङ् प्रसवे-क्विप्। सूः सवनम्, उत्पत्तिः। छन्दसि वनसनरक्षिमथाम्। पा० ३। २। २७ इति सू+षण दाने-इन्। सुवं सनोति ददातीति सूषणिः। तत्सम्बोधनम्। हे प्रसवस्य दात्रि कारिणि! **विष्कले**। कलस्तृपश्च। उ० १। १०४। इति विष्क हिंसायां दर्शने च कल प्रत्ययः। टाप्। हे वीरे, शूरे। दर्शनीये। **अव+सृज**। उपसर्गस्य व्यवधानम्। सृज विसर्गे। गर्भं बालकम् उत्पादय॥

भाषार्थ—[यह जरायु] (नेव) न तो (मांसे) मांस में (न) न (पीवसि) शरीर की मुटाई में (नेव) और न (मज्जसु) हड्डियों की मींगों में (आहतम्) बंधी हुयी है। (पृश्नि) पतली (शेवलम्) सेवार घास के समान (जरायु) जेली वा झिल्ली (शुने) कुत्ते के लिये (अत्तवे) खाने को (अव) नीचे (एतु) आवे, (जरायु) जरायु (अव) नीचे (पद्यताम्) गिरजावे ॥ ४ ॥

भावार्थ—जरायु एक झिल्ली होती है जिसे जेली वा जेंरी कहतें हैं और जिस में बालक गर्भ के भीतर लिपटा रहता है, कुछ उस में से बालक के साथ निकल आती है और कुछ पीछे। यह जरायु बालक उत्पन्न होने पर नाभि आदि के बन्धन से छुट जाती है और साररहित होकर माता के उदर में ऐसे फिरती है जैसे सेवार नाम घास जलाशय में। शरीर में उसके रहजाने से रोग हो जाता है। इस से उस जरायु का उदर से निकल जाना आवश्यक है जिस से प्रसूता नीरोग होकर सुखी रहे ॥ ४ ॥

४—न-इव। इव अवधाने। नैव। **मांसे**। मने र्दीर्घश्च। उ० ३। ६४ इति मन ज्ञाने धृतौ च सप्रत्ययः, दीर्घश्च। रक्तजधातुविशेषे। **न**। निषेधे। **पीवसि**। सर्वधातुभ्योऽसुन्। उ० ४। १८६। इति पीव स्थौल्ये-असुन्। ञ्नित्यादिर्नित्यम्। पा० ६। १। १९७। इति नित्त्वाद् आद्युदात्तः। स्थूलत्वे। **मज्जसु**। श्वनुक्षन् पूषन्०। उ० १। १५६। इति मस्ज जलान्तः प्रवेशे-कनिन्, निपात्यते च। अस्थिमध्यस्थस्नेहेषु। **आ-हतम्**। आङ्+हन बधे गतौ च-क्त। संबद्धम्। **अव**। अवाक्, अधस्तात्। **एतु**। गच्छतु, पततु। **पृश्नि**। घृणिपृश्नीनि। उ० ४। ५२। इति स्पृश स्पर्शे-नि, सलोपः। स्वल्पम्। **शेवलम्**। शीङो धुक्लक् वलञ् वालनः। उ० ४। ३८। इति शीङ् शयने-वालन्, ह्रस्वो वा. नित्त्वाद् आद्युदात्तः। जलस्योपरिस्थतृणविशेषः, शेवालं शैवलं वा। तद्वत् जननीजठरे स्थितं जरायु। **शुने**। श्वनुक्षन्पूषन्। उ० १। १५६। इति श्वि गतौ-कनिन। कुक्कुराय। **जरायु**। किंजरयोः श्रिणः। उ० १। ४। इति जरा+इण् गतौ-ञुण्। गर्भवेष्टनचर्म। उल्वम्। मांसपिण्डश्च यः प्रजननानन्तरं निःसरति। **अत्तवे**। तुमर्थे सेसेन्०। पा० ३।४।९। इति अद भक्षणे-तवेन् प्रत्ययः। भक्षितुम्। **पद्यताम्**। पद गतौ दिवादित्वात् श्यन्। नित्यवीप्सयोः। पा० ८। १। ४। इति नित्यतायां पुनः कथनम् गच्छतु, पततु ॥

वि ते॑ भिनद्मि मेह॑नं॒ वि योनिं॒ वि गवी॑नि॑के ।
वि मा॒तरं॑ च पु॒त्रं च॒ वि कु॑मा॒रं ज॒रायु॒णाव॑ ज॒रायु॑ पद्यताम् ॥ ५ ॥

वि । ते॒ । भि॒न॒द्मि॒ । मेह॑नम् । वि । योनि॑म् । वि । ग॒वीनि॑के॒ इति॑ । वि । मा॒तर॑म् । च॒ । पु॒त्रम् । च॒ । कु॒मा॒रम् । ज॒रायु॑णा । अव॑ । ज॒रायु॑ । प॒द्य॒ता॒म् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (मेहनम्) गर्भ मार्ग को (वि) विशेष करके और (योनिम्) गर्भाशय को (वि) विशेष करके और (गवीनिके) पार्श्वस्थ दोनों नाड़ियों को (वि) विशेष करके (भिनद्मि) [मलसे] अलग करती हूं (च) और (मातरम्) माता को (च) और (कुमारम्) क्रीड़ा करने वाले (पुत्रम्) पुत्र को (जरायुणा) जरायु से (वि वि) अलग २ [करती हूं], (जरायु) जरायु (अव) नीचे (पद्यताम्) गिर जावे ॥ ५ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में धात्रेयी [धायी] अपने कर्म का वर्णन करके प्रसूता को उत्साहित करती है, अर्थात् धायी बड़ी सावधानी से प्रसव समय प्रसूता के अंगों को आवश्यकतानुसार कोमल मर्दन करे और उत्पन्न होनेपर माता और

५—**वि+भिनद्मि**। भिदिर् विदारणे, द्विधाकरणे च । मलात् पृथक् करोमि, विश्लेषयामि । **मेहनम्** । १ । ३ । ७ । गर्भमार्गम् । वि=विभिनद्मि । एवं (वि) इति शब्देन सह सर्वत्र योजनीयम् । **योनिम्** । म०३ । गर्भाशयम् । **गवीनिके** । १। ३ । ६ । पार्श्ववर्तिन्यौ नाड्यौ । **मातरम्** । १ ।२ । १। मान्यते पूज्यते सा माता । जननीम् । **पुत्रम्** । पुवो ह्रस्वश्च । उ० ४ । १६५ । इति पूङ् शोधे क्त् । ह्रस्वश्च धातोः । पुनाति पित्रादीनिति पुत्रः । पुत्रः पुरुत्रायते निपरणाद्वा पुं नरकं ततस्त्रायत इति वा—इति यास्कः, निरु० २ । ११ । पुरु+त्रैङ् रक्षणे—ड । यद्वा, पुत्+त्रैङ्—ड । यथा च रामयणे । २ । १० ७ । १२ ।" पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् पितरं त्रायते सुतः । तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः पितॄन् यः पाति सर्वतः ॥" अपत्यम् । सन्तानम् । **कुमारम्** । कुमार क्रीडने—अच् । क्रीड़ा-

सन्तान की यथायोग्य शुद्धि करके सुधि रक्खे और ऐसा यत्न करे कि जरायु अपने आप गिर जावे जिस से दोनों माता और सन्तान सुखी रहैं ॥

यथा वातो यथा मनो यथा पतन्ति पक्षिणः ।
एवा त्वं दशमास्य साकं जरायुणा पताव जरायु पद्यताम् ॥ ६ ॥

यथा । वातः । यथा । मनः । यथा । पतन्ति । पक्षिणः । एव । त्वम् । दश-मास्य । साकम् । जरायुणा । पत । अव । जरायु । पद्यताम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (वातः) पवन और (यथा) जैसे (मनः) मन और (यथा) जैसे (पक्षिणः) पक्षी (पतन्ति) चलते हैं । (एव) वैसेही (दशमास्य) हे दस महीने वाले [गर्भ के बालक !] (त्वम्) तू (जरायुणा साकम्) जरायु के साथ (पत) नीचे आ, (जरायु) जरायु (अव) नीचे (पद्यताम्) गिर जावे ॥ ६ ॥

भावार्थ—(दशमास्य) दशवें अथवा ग्यारहवें महीने में बालक माता के गर्भ में बहुत शीघ्र चेष्टा करता है तब वह उत्पन्न होता है और जरायु वा झेली कुछ उस के साथ और कुछ उसके पीछे निकलती है ॥ ६ ॥

शीलम् । शिशुम् । जरायुणा । म० ४ । गर्भवेष्टनचर्मणा । अन्यत् गतम्-म० ४ ।

६—यथा । येन प्रकारेण । वातः । हसिमृग्रिण् वा० । उ० ३ । ८६ । इति वा सुम्वासिगतिसेवासु—तन् । नित्त्वाद् आद्युदात्तः । वायुः, पवनः । मनः । १ । १ । २ । ज्ञानसाधकम् अन्तः करणम् । पतन्ति । शीघ्रं गच्छन्ति उड्डीयन्ते । पक्षिणः । अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । इति पक्ष—इनि । विहगाः । एव । निपातस्य च । पा० ६ । ३ । १३६ । इति दीर्घः । एवम्, तथा । दश-मास्य । तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च । पा० २ । १ । ५१ । इति

ऋग्वेद म० ५ सू० ७८ म० ८ में इस प्रकार है ।

यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति ।

एवा त्वं दशमास्य सहावेहि जरायुणा ॥ १ ॥

जैसे वायु, जैसे वृक्ष और जैसे समुद्र हिलता है, ऐसे ही तू, हे दस महीने वाले [गर्भ के बालक !] जरायु के साथ नीचे आ ।

शब्दकल्पद्रुम कोश में लिखा है ।

अष्टमे मासि याते च अग्नियोगः प्रवर्तते ।

मासे तु नवमे प्राप्ते जायते तस्य चेष्टितम् ॥ १ ॥

जायते तस्य वैराग्यं गर्भवासस्य कारणात् ।

दशमे च प्रसूयेत तथैकादशमासि वा ॥ २ ॥

और आठवां महीना आने पर अग्नि योग होता है और नवमे महीने में उस [गर्भ] में चेष्टा होती है ॥ १ ॥ गर्भ में वास करने के कारण उस को वैराग्य (उच्चाटन) होता है, तब दसवें अथवा ग्यारहवें महीने में वह उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

तद्धितार्थे विषयभूते समासः । संख्यापूर्वो द्विगुः । पा० २ । १ । ५२ । इति द्विगु संज्ञायाम् । द्विगोर्यप् । पा० ५ । १ । ८२ । इति भरणार्थे यप् । हे दशसु मासेषु मात्रा पोषित शिशो । साकम् । सह । सहयुक्तेऽप्रधाने । पा० २ । ३ । १९ । इति सहार्थेन साकं शब्देन योगे जरायुणा इति अप्राधान्ये तृतीया । पत । अधो गच्छ । अव । इत्यादि गतं म० ४ ।

अथ तृतीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १२ ॥

१—४ ॥ वृषा देवता । १, २ ईश्वरगुणाः, ३, ४, रोग निवृत्तिः। १-३ त्रिष्टुप् ११×४, ४ अनुष्टुप् ॥

१,२ ईश्वरगुणः, ३, ४ रोगनिवृत्तः— १,२ ईश्वर के गुण और ३ ४ रोग निवृत्ति का उपदेश ॥

जरायुजः प्रथम उस्रियो वृषा वातभ्रजा स्तनयन्नेति वृष्ट्या । स नो मृडाति तन्व ऋजुगो रुजन् य एकमोजस्त्रेधा विचक्रमे ॥ १ ॥

जरायु-जः । प्रथमः । उस्रियः । वृषा । वात-भ्रजाः । स्तनयन् । एति । वृष्ट्या । सः । नः । मृडाति । तन्वे । ऋजु-गः । रुजन् । यः । एकम् । ओजः । त्रेधा । वि-चक्रमे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(जरायुजः) झिल्ली से [जरायुरूप प्रकृति से] उत्पन्न करने वाला, (प्रथमः) पहले से वर्तमान, (उस्रियः) प्रकाशवान् [हिरण्यगर्भनाम], (वातभ्रजाः) पवन के साथ पाकशक्ति वा तेज देने वाला, (वृषा) मेघ रूप परमेश्वर (स्तनयन्) गरजता हुआ (वृष्ट्या) बरसा के साथ (एति) चलता रहता है। (सः) वह (ऋजुगः) सरलगामी (रुजन्) [दोषों को]

१—जरायुजः । पञ्चम्यामजातौ । पा० ३ । २ । ९८ । इति जरायु+जन जननप्रादुर्भावयोः-ड । जरायोः प्रकृतिरूपाद् गर्भाशयाज्जनयति उत्पादयति सः। जरायुरूपायाः प्रकृतेः सृष्टिजनयिता । प्रथमः । प्रथेरमच् । उ० ५ । ६८ । इति,

मिटाता हुआ, (नः) हमारे (तन्वे) शरीरके लिये (मृडाति) सुख देवे, (यः) जिस (एकम्) अकेले (ओजः) सामर्थ्य ने (त्रेधा) तीन प्रकारसे (विचक्रमे) सब ओर को पद बढ़ाया था ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे माता के गर्भ से जरायु में लिपटा हुआ बालक उत्पन्न होता है वैसे ही (उस्रियः) प्रकाशवान् हिरण्यगर्भ और मेघ रूप परमेश्वर (वातभ्रजाः) सृष्टि में प्राण डालकर पाचन शक्ति और तेज देता हुआ सब संसार को प्रलय के पीछे प्रकृति, स्वभाव, वा सामर्थ्य से उत्पन्न करता है, वही त्रिकालज्ञ और त्रिलोकीनाथ आदि कारण जगदीश्वर हमें सदा आनन्द देवे ॥ १ ॥

प्रथ ख्यातौ—अमच् । आदिमः,जगतः पूर्वं वर्तमानः। **उस्रियः** । स्फायितञ्चि० । उ० २ । १३ । इति वस निवासे—रक् । वसन्त्येषु सूर्यादिपरतेजः, वसन्त्येषु रसाः इति उस्राः किरणाः, ततो मत्वर्थीयो घः । रश्मिवान् , हिरण्यगर्भः । परमेश्वरः । **वृषा** । कनिन् युवृषितक्षि० उ० १ । १५६ । इति वृषु सेचने, प्रजनैश्वर्ययोः–कनिन् । नित्वाद् आद्युदात्तः । वर्षकः । ऐश्वर्यवान् । इन्द्रः, सूर्यः, मेघः । तद्वद् वर्तमानः । **वातभ्रजाः** । वात+भ्रस्ज पाके वा भ्राज दीप्तौ–असुन् । वातेन सह पाकः, दीप्तिस्तेजो वा यस्य स वातभ्रजाः । **स्तनयन्** । स्तन देवशब्दे,चुरादिः,–शतृ । गर्जयन् । **एति** । गच्छति । **वृष्ट्या** । वृषु सेचने–क्तिन् । वर्षणेन । **मृडाति** । मृड सुखने-लेट् , आडागमः । सुखयेत् । **तन्वे** । १ । १ । १ । स्वरितश्च । शरीराय । **ऋजुगः** । ऋजु+गम्लृ–ड । सरलगामी । **रुजन्** । रुजो भङ्गे,तुदादिः–शतृ । । भञ्जन्, दोषान् निवारयन् । **एकम्** । इण् भीकापा० । उ० ३ । ४३ । इति इण् गतौ—कन् । एति सर्वं व्याप्नोतीति एकः । मुख्यम् , केवलम् । **ओजः** । उब्जेर्बले बलोपश्च । उ० ४ । १९२ । इति उब्ज आर्जवे-असुन् । बलम् , तेजः । **त्रेधा** । संख्याया विधार्थे धा । पा० ५ । ३ । ४२ । त्रिप्रकारेण,भूतवर्तमानभविष्यति वर्तमानत्वेन, त्रिलोक्यां व्यापनेन । **वि-चक्रमे** । क्रमु पादविक्षेपे—लिट् , वेः पादविहरणे । पा० १ । ३ ।४१। इति आत्मनेपदम् । विविधम् आक्रान्तवान् ॥

यजुर्वेद में इस प्रकार वर्णन है—य० १३ । ४ ॥

हिरण्यगर्भः सर्मवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

(हिरण्यगर्भः) तेजों का आधार परमेश्वर पहिले ही पहिले नियम पूर्वक वर्तमान था, वह संसार का प्रसिद्ध एक स्वामी था । उसने इस पृथिवी और प्रकाश को धारण किया था, हम सब उस प्रकाशमय प्रजापति परमेश्वर की भक्ति से सेवा किया करें ॥

और भी देखो ऋ० १ । २२ । १७ ।

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् ।
समूढमस्य पांसुरे ॥

(विष्णु) व्यापक परमेश्वर ने इस [जगत्) में अनेक अनेक प्रकार से पग को बढ़ाया, उसने अपने विचारने योग्य पद को तीन प्रकार से परमाणुओं से युक्त [संसार] में जमाया ॥

सायणभाष्य में (वातभ्रजाः) के स्थान में (वातप्रजाः) शब्द और अर्थ "वायु समान शीघ्रगामी" है ॥

अङ्गेअङ्गे शोचिषा शिश्रियाणं नमस्यन्तस्त्वा हविषा विधेम । अङ्कान्त्समङ्कान् हविषा विधेम यो अग्रभीत् पर्वास्या ग्रभीता ॥ २ ॥

अङ्गे-अङ्गे । शोचिषा । शिश्रियाणम् । नमस्यन्तः । त्वा । हविषा । विधेम । अङ्कान् । सम्-अङ्कान् । हविषा । विधेम । यः । अग्रभीत् । पर्व । अस्य । ग्रभीता ॥ २ ॥

भावार्थ—(शोचिषा) अपने प्रकाश से (अङ्गे अङ्गे) अङ्ग अङ्ग में

२-अङ्गे-अङ्गे । अङ्ग चिन्ह करणे-अच । नित्यवीप्सयोः । पा० ८ । १ । ४

(शिश्रियाणम्) ठहरे हुये (त्वा) तुझ को (नमस्यन्तः) नमस्कार करते हुये हम (हविषा) भक्ति से (विधेम) सेवा करते रहें । [उसके] (अङ्कान्) पृथक् पृथक् चिन्हों को और (समङ्कान्) मिले हुये चिन्हों को (हविषा) भक्ति से (विधेम) हम आराधें, (यः) जिस (ग्रभीता) ग्रहण करने हारे परमेश्वर ने (अस्य) इस [सेवक वा जगत्] के (पर्व) अवयव अवयव को (अग्रभीत) ग्रहण किया है ॥ २ ॥

भावार्थ—वह (वृषा) परमात्मा हमारे और सब व्यस्ति और समस्ति रूप जगत् के रोम रोम में परिपूर्ण है उस प्रकाश स्वरूप के गुणों को यथावत् जानकर हम लोग उस पर पूरी श्रद्धा से आत्म समर्पण करें । वह हमारे शरीर और आत्मा को बल देकर सहाय और आनन्द देता है ॥ २ ॥

इति द्विर्वचनम् । अङ्ग इत्यादौ च । पा० ६ । १ । ११९ । इति प्रकृतिभावः । सर्वेष्वङ्गेषु अवयवेषु । **शोचिषा** । अर्चिशुचिहुसृपि० । उ० २ । १०८ । इति शुच शौचे=शुद्धौ-इसि । दीप्त्या, प्रकाशेन । **शिश्रियाणम्** । लिटः कानज्वा । पा० ३ । २ । १०६ । इति । श्रिञ् सेवायाम्-कानच् । अचि श्नुधातु० । पा० ६ । ४ । ७७ । इति इयङादेशः । चितः । पा० ६ । १ । १६३ । इति अन्तोदात्तत्वम् । आश्रितम्, परिपूर्णम् । **नमस्यन्तः** । नमोवरिवश्चित्रङः क्यच् । पा० ३ । १ । १९ । इति नमस्—क्यच् पूजायाम्, लटः शतृ । पूजयन्तः । **त्वा** । त्वां वृषाणम् । **हविषा** । १ । ४ । ३ । दानेन, आत्मसमर्पणेन भक्त्या । **विधेम** । विध विधाने, तुदादिः, विधिलिङ् । परिचरणकर्मा-निघ० ५ । ५ । परिचरेम, सेवेमहि । **अङ्कान्** । हलश्च । पा० ३ । ३ । १२१ । इति अञ्चु गतिपूजनयोः-कर्तरि घञ् । चजोः कु घिण्ण्यतोः । पा० ७ । ३ । ५२ । इति कुत्वम् । अञ्चनशीलान् गमनशीलान्, व्यस्तिरूपेण पृथक् पृथग् व्याप्तान् गुणान् । **सम्-अङ्कान्** । सम्भूय गमनशीलान् । समस्तिरूपेण संगतान् गुणान् । **अग्रभीत्** । ग्रह उपादाने-लुङ्, हस्य भकारः । अग्रहीत् । **पर्व** । स्नामदिपद्यर्त्तिपृशकिभ्यो वनिप् । उ० ४ । ११३ । इति पॄ पालने, पूर्तौ -वनिप् । प्रत्येकावयवम् । **ग्रभीता** । ग्रह उपादने-तृच् । हस्य भः । ग्रहीता, ग्राहकः, धारकः ॥

मुञ्च शीर्षक्त्या उत कास एनं परुष्परुराविवेशा यो अस्य । यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो वनस्पतीन्त्सचतां पर्वतांश्च ॥ ३ ॥

मुञ्च । शीर्षक्त्याः । उत । कासः । एनम् । परुःऽपरुः । आऽविवेश । यः । अस्य । यः । अभ्रऽजाः । वातऽजाः । यः । च । शुष्मः । वनस्पतीन् । सचताम् । पर्वतान् । च ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(एनम्) इस पुरुष को (शीर्षक्त्याः) शिरकी पीड़ा से (उत) और [उस खाँसीसे] (मुञ्च) छुड़ा (यः कासः) जिस खाँसी ने (अस्य) इस पुरुष के (परुःपरुः) जोड़ जोड़ में (आविवेश) घर कर लिया है। (यः) जो खाँसी (अभ्रजाः) मेघ से उत्पन्न, (वातजाः) वायु से उत्पन्न (च) और (यः) जो (शुष्मः) सूखी [होवे और जो] (वनस्पतीन्) वृक्षों से (च) और (पर्वतान्) पहाड़ों से (सचताम्) संबन्ध वाली होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—खाँसी सब रोगों की माता है जैसा कि प्रसिद्ध है "लड़ाई का घर हाँसी और रोग का घर खाँसी"। जैसे सद्वैद्य मन्त्र में कहे अनुसार मस्तक

३—मुञ्च । मुच्लृ मोचने । मोचय । शीर्षक्त्याः । शीर्ष+अञ्चु गतिपूजनयोः—क्तिन् । शीर्षं शिरः अञ्चति गच्छति व्याप्नोतीति शीर्षक्तिः, तस्याः शिरःपीड़ायाः सकाशात् । उत । अपि च । कासः । हलश्च । पा० ३ । ३ । १२१ । इति कासृ शब्दकुत्सनयोः—घञ् । रोगविशेषः । कासी वा खांसी इति भाषा । क्षवथुः । परुः-परुः । अर्त्तिपॄवपियजि० । उ० २ । ११७ । इति पॄ पूर्त्तिपालनयोः—उसि । सर्वान् शरीरसन्धीन् । आ-विवेश । विश प्रवेशने-लिट् । छान्दसो दीर्घः । प्रविष्टवान् । अभ्रजाः । अप्+भृ-क्त । अपो बिभर्त्तीति अभ्रं मेघः । जनसनखनक्रमगमो विट् । पा० ३ । २ । ६७ । इतिअभ्र+जनी प्रादुर्भावे–विट् । विड्वनोरनुनासिकस्यात् । पा०६ । ४ । ४१ । इति आत्वम् । मेघस्य सम्बन्धाज्जातः । वातजाः । पूर्ववत् । वात+जनी–विट् । वायोर्जात उत्पन्नः कासः शुष्मः । अविसिविसिशुषिभ्यः कित् । उ० १ । १४४ । इति

की पीड़ा और खाँसी आदि बाहिरी और भीतरी रोगों का निदान जान कर रोगी को स्वस्थ करता है इसी प्रकार परमेश्वर वेद ज्ञान से मनुष्य को दोषों से छुड़ा कर और ब्रह्म ज्ञान देकर अत्यन्त सुखी करता है। इसी प्रकार राज प्रबन्ध और गृह प्रबंध आदि व्यवहार में विचारना चाहिये ॥ ३ ॥

शं मे॒ पर॑स्मै॒ गात्रा॑य॒ शम॒स्त्वव॑राय मे ।
शं मे॑ च॒तुर्भ्यो॒ अङ्गे॑भ्य॒: शम॑स्तु त॒न्वे॒ ३॒॑ मम॑ ॥४॥

शम् । मे॒ । पर॑स्मै । गात्रा॑य । शम् । अ॒स्तु॒ । अव॑राय । मे॒ । शम् । मे॒ । च॒तुः-भ्यः॑ । अङ्गे॑भ्यः । शम् । अ॒स्तु॒ । त॒न्वे॑ । मम॑ ॥४॥

भाषार्थ—(मे) मेरे (परस्मै) ऊपर के (गात्राय) शरीर के लिये (शम्) सुख और (मे) मेरे (अवराय) नीचे के शरीर के लिये (शम्) सुख (अस्तु) होवे। (मे) मेरे (चतुर्भ्यः) चारों (अङ्गेभ्यः) अंगों के लिये (शम्) सुख और (मम) मेरे (तन्वे) सब शरीर के लिये (शम्) सुख (अस्तु) होवे ॥ ४ ॥

शुष शोषे-मन् स च कित्। शोषकः, पित्तविकारादिजनितः कासः। **वनस्पतीन्** । १। ३५। ३। वनानां पतिः पाता वा वनस्पतिः। वनति सेवते अथवा वन्यते सेव्यते इति वनम्। वन सेवने, याचने, उपकारे-अच्। पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम्। पा० ६। १। १५७। इति सुडागमः। सर्ववृक्षान्। **सचताम्** । षच समवाये-लोट्। सचन्ताम्=संसेव्यन्ताम्-निरु० ६। ३२। समवैतु, सम्बध्नातु। **पर्वतान्** । भृमृदृशियजिपर्विपचि। उ० ३। ११०। इति पर्व पूरणे-अतच्। शैलान ॥

४—**परस्मै** । १।८।३। श्रेष्ठाय, उपरिवर्तमानाय। **गात्राय** । गमेराच। उ० ४। १६६। इति गम्लृ-त्रन्, मस्य आकारः। गच्छति चेष्टतेऽनेन। अङ्गाय, शरीराय। **अवराय** । १। ८। ३। निकृष्टाय, अवस्ताद् वर्तमानाय। **चतुः-भ्यः** । चतुःसंख्येभ्यः। द्वौ हस्तौ, द्वौ पादौ-इति चत्वारि तेभ्यः। **अङ्गेभ्यः** । अङ्ग पदे=गतौ-अच्। अङ्गयति चेष्टतेऽनेन। अवयवेभ्यः, गात्रेभ्यः। **तन्वे** । म० १। शरीराय सर्वस्मै ॥

भावार्थ—चारों अंग दो हाथ और दो पद हैं। मनुष्य को योग्य है कि परमेश्वर की प्रार्थना पूर्वक अपने सब अमूल्य शरीर को प्रयत्न से सर्वथा स्वस्थ रक्खे और मानसिक बल बढ़ा कर संसार में उपकारी हो और सदा सुख भोगे ॥ ४ ॥

सूक्तम् ॥ १३ ॥

१—४ ॥ प्रजापतिर्देवता। १,२ अनुष्टुप्, ३,४ जगती १२×४ ॥

आत्मरक्षोपदेशः—आत्मरक्षा के लिये उपदेश ॥

नम॑स्ते अस्तु वि॒द्यु॒ते॒ नम॑स्ते स्तनयि॒त्नवे॑।
नम॑स्ते अ॒स्त्वश्म॑ने॒ येना॑ दू॒डाशे॒ अस्य॑सि ॥ १ ॥

नमः॑। ते॒। अ॒स्तु॒। वि॒ऽद्यु॒ते॑। नमः॑। ते॒। स्त॒न॒यि॒त्नवे॑।
नमः॑। ते॒। अ॒स्तु॒। अश्म॑ने। येन॑। दुः॒ऽदाशे॑। अस्य॑सि ॥१॥

भाषार्थ—हे परमेश्वर ! (ते) तुझ (विद्युते) कौंधा लेती हुयी, बिजुली रूप को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे, (ते) तुझ (स्तनयित्नवे) गड़गड़ाते हुये, बादलरूप को (नमः) नमस्कार होवे। (ते) तुझ (अश्मने) पाषाण रूप को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे, (येन) जिस [पत्थर] से (दूडाशे) दुःखदायी पुरुष को (अस्यसि) तू ढादेता है ॥ १ ॥

१—**विद्युते**। भ्राजभासधुर्विद्युतो०। पा०३।२।१७७। इति वि + द्युत दीप्तौ—क्विप्। विशेषेण दीप्यमानायै तडिते, सौदामिन्यै, तडिद्रूपाय। **स्तनयित्नवे**। स्तनिहृषिपुषिगदिमदिभ्यो णेरित्नुच्। उ०३। २९। इति स्तन देवशब्दे-इत्नुच्। चुरादित्वात् णिच्। अदन्तत्वाद् उपधावृद्ध्यभावः। अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु। पा० ६। ४। ५५। इति णेः अयादेशः। गर्जनशीलाय मेघाय, तद्रूपाय। **अश्मने**। अशिशकिभ्यां छन्दसि। उ० ४। १४७। इति अशूङ् व्याप्तिसंहत्योः-मनिन्। व्यापनशीलाय। पाषाणाय, तद्रूपाय। दुः-

भावार्थ—न्यायकारी परमात्मा दुःखदायी अधर्मी पापियों को आधिदैविक आदि दंड देकर अनन्त विपत्तियों में डालता है, इसलिये सब मनुष्य उस के कोप से डर कर उस की आज्ञा का पालन करें और सदा आनन्द भोगें ॥१॥

नमस्ते प्रवतो नपाद् यतस्तपः समूहसि ।
मृडया नस्तनूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥ २ ॥

नमः । ते । प्र-वतः । नपात् । यतः । तपः । सम्-ऊहसि ।
मृडय । नः । तनूभ्यः । मयः । तोकेभ्यः । कृधि ॥ २ ॥

भावार्थ—हे (प्रवतः) अपने भक्त के (नपात्) न गिराने हारे ! (ते) तुझ को (नमः) नमस्कार है, (यतः) क्योंकि तू [दुष्टों पर] (तपः) संताप को (समूहसि) संयुक्त करता है। (नः) हमें (तनूभ्यः) हमारे शरीरों के लिये (मृडय) सुख दे और (तोकेभ्यः) हमारे सन्तानों के लिये (मयः) सुख (कृधि) प्रदान कर ॥ २ ॥

दाशे । दुर्+दाशृ दाने—घञ् वा खल् । पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् । पा० ६ । ३ । १०६ । अत्र । दुरोदाशनाशदभध्येषूत्वमुत्तरपदादेः ष्टुत्वं च । इति वार्त्तिकेन ऊत्वं डत्वं च । दुर् दुःखं दाशति ददातीति दूडाशः । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । इति द्वितीयायां सप्तमी । दुःखदायिनम् अधार्मिकं पुरुषम् । अस्यसि । असु क्षेपणे—श्यन् । क्षिपसि नाशयसि ॥

२—प्र-वतः । प्रपूर्वकात् वन संभक्तौ=सेवने, याचने च—क्विप् । गमः क्वौ पा० ६ । ४ । ४० । अत्र । गमादीनामिति वक्तव्यम् । इति वार्त्तिकेन नकारलोपः । ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् । पा० ६ । १ । ७१ । इति तुक् आगमः । भक्तस्य सेवकस्य याचकस्य अथवा भक्तान् द्वितीयार्थे । नपात् । नञ् पूर्वकात् पत अधःपतने, णिच्—क्विप् । नभ्राण् नपात्० । पा० ६ । ३ । ७५ । इति नञः प्रकृतिभावः । न पातयतीति नपात् । हे नपातयितः, न पातनशील ! धारयितः । (नपात्) य० १२ । १०८ । न विद्यते पातो धर्मात् पतनं यस्य सः—इति श्री मद्दयानन्दः । यतः । यस्मात् कारणात् । तपः । सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८९ । इति तप सन्तापे—असुन । सन्तापम । सम्+ऊहसि—ऊह वितर्के ।

भावार्थ—परमेश्वर भक्तों को आनन्द और पापियों को कष्ट देता है। सब मनुष्य नित्य धर्म में प्रवृत्त रहें और संसार भर में सुख की वृद्धि करें ॥

प्रवतो नपान्नम एवास्तु तुभ्यं नमस्ते हेतये तपुषे च कृण्मः। विद्म ते धाम परमं गुहा यत् समुद्रे अन्तर्निहितासि नाभिः ॥ ३ ॥

प्र-वतः । नपात् । नमः । एव । अस्तु । तुभ्यम् । नमः । ते । हेतये । तपुषे । च । कृण्मः । विद्म । ते । धाम । परमम् । गुहा । यत् । समुद्रे । अन्तः । नि-हिता । असि । नाभिः ॥३॥

भाषार्थ—हे (प्रवतः) अपने भक्त के (नपात्) न गिराने वाले! (तुभ्यम्) तुझको (एव) अवश्य (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे, (ते) तुझ (हेतये) वज्र रूप को (च) और (तपुषे) तपाने वाले तोप आदि अस्त्ररूप को (नमः) नमस्कार (कृण्मः) हम करते हैं। (यत्) क्योंकि (ते) तेरे (परमम्) बड़े ऊंचे (धाम) धाम [निवास] को (गुहा=गुहायाम्) गुफा में [अपने हृदय और प्रत्येक अगम्य स्थान में] (विद्म) हम जानते हैं। (समुद्रे अन्तः) आकाश के बीच में

उपसर्गवशात् संवीकरणे। संहतं करोषि, संयोजयसि। मृडय। मृड तोषणे। तोषय, अनुगृहाण। तनूभ्यः। १।१।१। शरीरेभ्यः। तेषां हिताय। मयः। मिञ् हिंसायाम्-असुन्। मिनोति दुःखम्। सुखम्। निघ० ३।६। तोकेभ्यः। हृदाधारार्चिकलिभ्यः कः। उ० ३।४०। इति तु वृद्धौ पूर्तौ-क प्रत्ययः। तौति पूरयति गृहमिति तोकम्। अपत्यनाम-निघ० २।२। अपत्येभ्यः। कृधि। कुरु। देहि। तोकेभ्यस्कृधि। कःकरत्करतिकृधिकृतेष्वनदितेः। पा० ८।३। ५०। इति विसर्गस्य सत्वम् ॥

३—प्र-वतः नपात्। म० २। हे स्वभक्तस्य न पातयितः। हेतये। ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च। पा० ३।३।९७। इति हन वधे गतौ च क्तिन्। एत्वम् उदात्तत्वं च निपात्येते। यद्वा हि वर्धने गतौ च—क्तिन् निपातितश्च। हन्यन्तेऽनया शत्रवः। गम्यतेऽनया जयः, वर्द्धयते वैश्वर्यम्। हेतिः, वज्र

(नाभिः) बन्ध में रखने वाली नाभि के समान तू (निहिता) ठहरा हुआ (असि) है ॥ ३ ॥

भावार्थ—इस भक्त रक्षक, दुष्टनाशक परमात्मा का (परम धाम) महत्त्व सब के हृदयों में और सब अगम्य स्थानों में वर्तमान है। जैसे (नाभि) सब नाड़ियों को बन्धन में रखकर शरीर के भार को समान तोल कर रखती है, वैसे ही परमेश्वर (समुद्र) अन्तरिक्ष वा आकाश में स्थित मनुष्य आदि प्राणियों और सब पृथिवी, सूर्य आदि लोकों का धारण करने वाला केन्द्र है। विद्वान् लोग उसको माथा टेकते और उसकी महिमा को जानकर संसार में उन्नति करते हैं ॥ ३ ॥

यां त्वा देवा असृजन्त विश्व इषुं कृण्वाना असनाय धृष्णुम्। सा नो मृड विदथे गृणाना तस्यै ते नमो अस्तु देवि ॥ ४ ॥

नाम—निघ० ३। २०। वज्राय, वज्ररूपाय। **तपुषे**। अर्त्तिपृवपियजितनिधनि-तपिभ्यो—नित्। उ० २। ११७। इति तप ऐश्वर्यसंतापदाहेषु—उसि। दाहकाय अस्त्राय, तद्रूपाय। **कृणमः**। कृवि हिंसाकरणयोः—लट्। वयं कुर्मः। **विद्म**। विदोलटो वा। पा० ३। ४। ८३। इति विद ज्ञाने मसो मादेशः। वयं जानीमः। **धाम**। सर्वधातुभ्यो मनिन्। उ० ४। १४५। इति धा—मनिन्। स्थानम्, गृहम्। प्रभावम्। **परमम्**। आतोऽनुपसर्गे कः। पा० ३। २। ३। इति पर+मा माने—क। उत्कृष्टम्। **गुहा**। १। ८। ४। सप्तम्या लुक्। गुहायाम्, गर्ते हृदये। गुहावद् अगम्ये प्रदेशे यत्। यस्मात् कारणात। **समुद्रे**। १। ३। ८। अन्येष्वपि दृश्यते। पा० ३। २। १०१ इति सम्+उत्+द्रु गतौ—डप्रत्ययः, यद्वा, स्फायितञ्चिवञ्चि०। उ० २। १३। सम्+मुद हर्षे—अधिकरणे रक्। यद्वा, सम्+उन्दी क्लेदने—रक्। सागरे, उदधौ, अन्तरिक्षे—निघ० १। ३। **अन्तः**। मध्ये। **नि-हिता**। दधातेर्हिः। पा० ७। ४। ४२। इति नि पूर्वात् धाञः—क्त, हिरादेशः। स्थापिता। **नाभिः**। नहो भश्च। उ० ४। १२६। इति णह बन्धने—इञ् प्रत्ययः, ञ्नित्यादिर्नित्यम्। पा० ६। १। १९७। इति आद्युदात्तः। नह्यति बध्नाति नाडीः। स्त्रीलिंगता। तुन्दकूपी। नाभिचक्रवत् मध्यस्थः ॥

याम् । त्वा । देवाः । असृजन्त । विश्वे । इषुम् । कृण्वानाः । असनाय । धृष्णुम् । सा । नः । मृड । विदथे । गृणाना । तस्यै । ते । नमः । अस्तु । देवि ॥ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(विश्वे) सब (देवाः) विद्वानों ने (याम् त्वा) जिस तुझ परमेश्वर को (असनाय) नाश के लिये (धृष्णुम्) बहुत दृढ़ (इषुम्) शक्ति अर्थात् बरछी (कृण्वानाः) बनाकर (असृजन्त) माना है । (सा) सो तू (विदथे) यज्ञ में (गृणाना) उपदेश करती हुयी (नः) हमको (मृड) सुख दे, (देवि) हे देवी [बरछी] (तस्यै ते) उस तेरे लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग परमेश्वर के क्रोध को सब संसार के दोषों के नाश के लिये बरछी रूप समझ कर सदा सुधार और उपकार करते हैं तब संसार में प्रतिष्ठा और मान पाकर सुख भोगते और परमात्मा के क्रोध का धन्यवाद देते ॥ हैं ॥

यजुर्वेद में लिखा है-यजु० १६ । ३ ॥

यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे ।
शिवां गिरित्र तां कुरु माहिंᳩसीः पुरुषं जगत् ॥१॥

४—त्वा । प्रवतो नपातम्,म०३ । देवाः । विद्वांसः । असृजन्त । सृज विसर्गे—लङ् । सृष्टवन्तः, त्यक्तवन्तः । मनसा कल्पितवन्तः । इषुम् । ईषेः किच्च । उ० १ । १३ । इति ईष हिंसने–उ, ह्रस्वश्च । अथवा । इष गतौ–उ । बाणम् शक्तिनामायुधम् । कृण्वानाः । कृवि हिंसाकरणयोः–शानच् । कुर्वाणाः । असनाय । असु क्षेपणे –भावे ल्युट् । क्षेपणाय । नाशनाय । धृष्णुम् । त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः । पा०३ । २ । १४० । इति ञिधृषा प्रागल्भ्ये–क्नु । प्रगल्भाम्,निर्भयाम् सुदृढाम् । मृड । मृडय,सुखय । विदथे । रुविदिभ्यां ङित् । उ० ३ । ११५ । इति विद ज्ञाने विद्लृ लाभे विद विचारणे, विद सत्तायाम्—अथ प्रत्ययः । स च ङित् । विदथः,यज्ञनाम–निघ० ३ । १७ । ज्ञायते हि यज्ञः,लभते हि दक्षिणादिरत्र, विचार्यते हि विद्वद्भिः, भावयत्यनेन फलम्—इति तत्र टीकायां देवराज यज्वा । यज्ञे । वेदितव्ये कर्मणि । गृणाना । गॄ शब्दे–शानच् । शब्दायमाना, उपदिशन्ती । देवि । हे द्योतमाने, हे दिव्यगुणयुक्त ॥

हे वेद द्वारा शान्ति फैलाने वाले ! जिस बर्छी वा बाण को चलाने के लिये अपने हाथों में तू धारण करता है। हे वेदद्वारा रक्षा करने वाले ! उस को मंगलकारी कर, पुरुषार्थी लोगों को तू मत मार ॥

सूक्तम् १४ ॥

१—४ ॥ वधूवरौ देवते । अनुष्टुप् ८×४ ॥

विवाहसंस्कारोपदेशः—विवाहसंस्कार का उपदेश ॥

भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्रजम् ।
महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक् पितृष्वास्ताम् ॥ १ ॥

भगम् । अस्याः । वर्चः । आ । अदिषि । अधि । वृक्षात्-इव । स्रजम् । महाबुध्नः-इव । पर्वतः । ज्योक् । पितृषु । आस्ताम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अस्याः) इस [वधू] से (भगम्) [अपने] ऐश्वर्य को और (वर्चः) तेज को (आ अदिषि) मैंने माना है, (इव) जैसे (वृक्षात् अधि) वृक्ष से (स्रजम्) फूलों की माला को। (महाबुध्नः) विशाल जड़वाले (पर्वतः इव) पर्वत के समान [यह वधू] (पितृषु) [मेरे] माता पिता आदि बान्धवों में (ज्योक्) बहुत काल तक (आस्ताम्) रहे ॥ १ ॥

भावार्थ—यह वर का वचन है। विद्वान् पुरुष खोज कर अपने समान गुण वती स्त्री से विवाह करके संसार में ऐश्वर्य और शोभा पाता है जैसे वृक्ष के सुन्दर फूलों से शोभा होती है। वधू अपने सास ससुर आदि माननीयों की

१—**भगम्** । पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण । पा० ३।३।११८। इति भज सेवायाम्-घ प्रत्ययः । चजोः कुघिण्यतोः । पा० ७ । ३ । ५२ । इति घत्वम् । भगः. धननाम निघ २ । १० । श्रियम्, ऐश्वर्यम् कीर्त्तिम् । **अस्याः** । नवोढायाः स्त्रियाः सकाशात् । **वर्चः** । १ । ६ । ४ । रूपम् । तेजः । **आ+अदिषि** । आङ् पूर्वकात् डुदाञ् आदाने-लुङ् । आङो दोऽनास्य विहरणे । पा० १ । ३ । २० । इति आत्मने पदम् । अहं गृहीतवान् प्रासन्नानस्मि । **अधि** । पञ्चम्यर्थानुवादी । उपरि ।

सेवा और शिक्षा से दृढ़चित्त होकर घर के कामों का सुप्रबन्ध करके गृहलक्ष्मी की पक्की नेव जमावे और पति पुत्र आदि कुटुम्बियों में बड़ी आयु भोग कर आनन्द करे ॥ १ ॥

मन्त्राः २—४ । वधूपक्षोक्तिः ॥

एषा ते राजन् कन्या वधूर्नि धूयतां यम ।
सा मातुर्बध्यतां गृहेऽथो भ्रातुरथो पितुः ॥ २ ॥

एषा । ते । राजन् । कन्या । वधूः । नि । धूयताम् । यम । सा । मातुः । बध्यताम् । गृहे । अथो इति । भ्रातुः । अथो इति । पितुः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यम) हे नियम में चलाने वाले, वर (राजन्) राजा ! (एषा) यह (कन्या) कामना योग्य कन्या (ते) तेरी (वधूः) वधू (नि) नियम से (धूयताम) व्यवहार करे। (सा) वह (मातुः) [तेरी] माता के, (अथो) और भी (पितुः) पिता के (अथो) और (भ्रातुः) भ्राता के साथ (गृहे) घर में (बध्यताम्) नियम से बन्धी रहे ॥ २ ॥

वृक्षात् इव । १ । २ । ३ । इगुपधज्ञाप्रीकिरः । पा० ३ । १ । १३५ । इति वृक्ष वरणे—क । वृक्ष्यते व्रियते सेव्यते छायाफलार्थम् । विटपात् यथा । स्रजम् । ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिक्० । पा० ३ । २ । ५९ । इति सृज विसर्गे-क्विन् । सृजति ददाति शोभामिति स्रक् । पुष्पमालाम् । महाबुध्नः । बन्धे-र्ब्रधिबुधी च । उ० ३ । ५ । इति बन्ध बन्धने—नक्, बुधादेशश्च । विशालमूलः, दृढमूलः । पर्वतः । १ । १२। ३ । शैलः । भूधरः । ज्योक् । १ । ६ । ३ । चिर-कालम् । पितृषु । १ । २ । १ । रक्षकेषु । जनकवत् मान्येषु, मातापित्रादिषु बन्धुषु । आस्ताम् । आस उपवेशने—लोट् । तिष्ठतु । निवसतु ॥ १ ॥

२—राजन् । १ । १० । १ । हे ऐश्वर्यवन् जामातः । कन्या । अघ्न्या-दयश्च । उ० ४ । ११२ । इति कन प्रीतौ, द्युतौ, गतौ,—यक्, टाप् च । कन्यते काम्यते दीप्यते गच्छति वा सा । कमनीया । पुत्री । वधूः । वहेर्धश्च । उ० १ । ८३ । वह प्रापणे—ऊ प्रत्ययः, धश्च । वहति प्रापयति सुखानीति । यद्वा । बन्ध—ऊः,

भावार्थ—मन्त्र २—४ वधू पक्ष के वचन हैं । वधू के माता पिता आदि वर से कहें कि यह सुशिक्षिता गुणवती कन्या आप को सौंपी जाती है यह आप के माता, पिता और भ्राता आदि सब कुटुम्बियों में रहकर अपने सुप्रबन्ध से सब को प्रसन्न रक्खें और सुख भोगे ॥ २ ॥

मनुजी महाराज ने कहा है—मनुस्मृति अ० २ श्लो० २४० ॥

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम् ।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥ १ ॥

स्तुति योग्य स्त्रियां, रत्न, विद्या, धर्म, शुद्धता, और मीठी बोली, और अनेक प्रकार की हस्त क्रियायें सब से यत्नपूर्वक लेना चाहियें ॥

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता ।
न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किंचित् कार्यं गृहेष्वपि ॥१॥

म० ५ । १४७ ॥

चाहे स्त्री बालक वा युवती वा बूढ़ी हो, वह स्वतन्त्रता से कोई काम घरोंमें भी न करे ॥

न लोपः । बध्नाति प्रेम्णा या नवोढा स्त्री, भार्या । नि । नितराम्, नियमेन । ध्रूयताम् । धूञ् कम्पने-कर्मणि लोट् । चेष्टताम्, गृहकार्येषु प्रवर्तताम् । यम । यम नियमने-अच् । यमयति नियमयति गृहकार्याणीति । यमो यच्छतीति । स्तनः, मध्यस्थानदेवतासु-निरु० १० । १६ । द्युस्थानः-निरु०, १२ । १०, ११ । वायुः, सूर्यः । हे नियामक वर ! मातुः । १ । २ । १ । तव जनन्याः । बध्यताम् । बन्ध बन्धने कर्मणि लोट् । प्रेमबद्धा भवतु । गृहे । गेहे कः । पा० ३ । १ । १४४ । इति ग्रह आदाने-क । वासस्थाने, भवने, मन्दिरे । अथो । अथ+उ । अपि च । भ्रातुः । नप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृ० । उ०२ । ९५ । इति भ्राज दीप्तौ-तृन् । सहोदरस्य । पितुः । म० १ । जनकस्य ॥ २ ॥

ए॒षा ते॑ कुल॒पा रा॑जन् ताम्॑ ते॒ परि॑ दद्मसि ।
ज्योक् पि॒तृष्वा॑साता आ॒शी॒र्ष्णः स॒मोप्या॑त् ॥ ३ ॥

ए॒षा । ते॒ । कु॒ल॒-पाः । रा॒ज॒न् । ताम् । ऊँ॒ इति॑ । ते॒ । परि॑ । द॒द्म॒सि॒ । ज्योक् । पि॒तृषु॑ । आ॒स॒ता॒तै॒ । आ । शी॒र्ष्णः । स॒म्-ओ॒प्या॒त् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(राजन्) हे वर राजा (एषा) यह कन्या (ते) तेरे (कुलपाः) कुल की रक्षा करने हारी है, (ताम्) उसको (उ) ही (ते) तेरे लिये (परि) आदर से (दद्मसि) हम दान करते हैं। यह (ज्योक्) बहुत काल तक (पितृषु) तेरे माता पिता आदिकों में (आसातै) निवास करे, और (आशीर्ष्णः) अपने मस्तक तक [जीवन पर्यन्त वा बुद्धि की पहुंच तक] (समोप्यात्) ठीक ठीक बढ़ती का बीज बोवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—फिर वधूपक्ष वाले माता पिता आदि इस मन्त्र से जामाता की विनती करते और स्त्री धर्म का उपदेश करते हुये कन्या दान करके गृहाश्रम में प्रविष्ट कराते हैं ॥ ३ ॥

३—**कुलपाः** । कुल+पा रक्षणे-कर्मण्युपपदे विच् प्रत्ययः । पातिप्रत्येन कुलस्य पालयित्री रक्षयित्री । **राजन्** । हे ऐश्वर्यवन् जामातः । **ऊँ इति** । अवश्यम् । **परि+दद्मसि** । इदन्तो मसिः । पा० ७ । १ । ४६ । इति मस इदन्तत्वम् । रक्षणार्थं दानं परिदानम् । रक्षणार्थं दद्मः, समर्पयामः । **ज्योक्** । म० १ । दीर्घकालम् । **पितृषु** । म० १ । मातापित्रादिबन्धुषु । **आसातै** । आस उपवेशने-लेटि आडागमः । टेः एत्वे । वैतोऽन्यत्र । पा० ३ । ४ । ९६ । इति ऐकारः । आस्ताम्, निवसतु । **आ-शीर्ष्णः** । १ । ७ । ७ । आङ् मर्यादावचने । पा० १ । ४ । ८९ । इति आङः कर्मप्रवचनीयसंज्ञा । पञ्चम्यपाङ्परिभिः । पा० २ । ३ । १० । इति पञ्चमी । शीर्षंश्छन्दसि । पा० ६ । १ । ६० । इति शिरः शब्दस्य शीर्षन् आदेशः । मस्तकस्थितिपर्यन्तं, जीवनपर्य्यन्तम् । **सम्-ओप्यात्** = सम्+आ+उप्यात् । वप बीजवपने मुण्डने च-आशीर्लिङ् । यथामर्यादं बीजवपनं वर्धनं कुर्य्यात् ॥ ३ ॥

असितस्य ते ब्रह्मणा कश्यपस्य गयस्य च ।
अन्तः कोशमिव जामयोऽपि नह्यामि ते भगम् ॥४॥

असितस्य । ते । ब्रह्मणा । कश्यपस्य । गयस्य । च ।
अन्तः-कोशम्-इव । जामयः । अपि । नह्यामि । ते । भगम् ॥४॥

भाषार्थ—(असितस्य) जो तू बन्धन रहित, (कश्यपस्य) [सोम] रस पीने हारा, (च) और (गयस्य) कीर्तन के योग्य है उस (ते) तेरे (ब्रह्मणा) वेद ज्ञान के कारण (ते) तेरे लिये (भगम्) ऐश्वर्य को (अपि) अवश्य (नह्यामि) मैं बांधता हूं। (इव) जैसे (जामयः) कुल स्त्रियां [वा बहिनें] (अन्तः कोशम्) मञ्जूषा वा पिटारे को [बांधती] हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र के अनुसार वधू पक्ष वाले पुरुष और स्त्रियां विनती करके श्रेष्ठ वर और कन्या को धन, भूषण, और वस्त्र आदि से सत्कार के साथ विदा करें ॥ ४ ॥

सूक्तम् १५ ॥

१-४ । प्रजापतिर्देवता । १ पूर्वार्धोऽनुष्टुप्, द्वितीयार्धस्त्रिष्टुप्, २ पूर्वार्धो जगती द्वितीयोऽनुष्टुप्, ३, ४ अनुष्टुप् छन्दः ॥

४—असितस्य । अञ्चिघृसिभ्यः क्तः । उ० ३।८९ । इति षिञ् बन्धने-क्त, नञ् समासः । अबद्धस्य, मुक्तस्य । ब्रह्मणा । १ । ८ । ४ ॥ वेदज्ञानकारणेन । कश्यपस्य । कश शब्दे-बाहुलकात् करणे-यत् । कशति अनेनेति कश्यं सुखकरो रसः । कश्य+पा पाने-क । कश्यं सोमरसं पिवतीति कश्यपः । सोमपानशीलस्य । गयस्य । गै गाने-घञ्, पृषोदरादित्वात् ह्रस्वः । गेयस्य कीर्तनीयस्य । अन्तः कोशम्-कुश संश्लेषणे - अधिकरणे घञ् । वस्त्रादिधारणाय आवरणम्, मञ्जूषाम् । जामयः । १ । ४ । १ । कुलस्त्रियः, माताभगिन्यादयः । अपि । अवधारणे, अवश्यम् । नह्यामि । णह बन्धने श्यन् । बध्नामि । भगम् । म० १ । ऐश्वर्यम् ॥ ४ ॥

ऐश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—ऐश्वर्य की प्राप्ति का उपदेश ॥

सं सं स्र॑वन्तु सिन्ध॑वः सं वाताः सं प॑तत्रिणः । इमं यज्ञं प्रदिवो मे जुषन्तां संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥१॥

सम् । सम् । स्रवन्तु । सिन्ध॑वः । सम् । वाताः । सम् । पतत्रिणः । इमम् । यज्ञम् । प्र-दिवः । मे । जुषन्ताम् । सम्-स्राव्येण । हविषा । जुहोमि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सिन्धवः) सब समुद्र (सम् सम्) अत्यन्त अनुकूल (स्रवन्तु) बहें, (वाताः) विविध प्रकार के पवन और (पतत्रिणः) पक्षी (सम् सम्) बहुत अनुकूल बहें । (प्रदिवः) बड़े तेजस्वी विद्वान् लोग (इमम्) इस (मे) मेरे (यज्ञम्) सत्कार को (जुषन्ताम्) स्वीकार करें, (संस्राव्येण) बहुत आर्द्रभाव [कोमलता] से भरी हुयी (हविषा) भक्ति के साथ [उनको] (जुहोमि) मैं स्वीकार करता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि नौका आदि से समुद्रयात्रा को, विमान आदि से वायुमण्डल में जाने आने के मार्गों को, और यथा योग्य व्यवहार से

१—सम् सम् । अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते—निरु० १० । ४२ । अत्यन्त-सम्यक्, अत्यनुकूलाः । स्रवन्तु । स्रु गतौ, स्रवणे च-लोट् । गच्छन्तु, प्रवहन्तु । सिन्धवः । १ । ४ । ३ । स्यन्दनशीलाः । समुद्राः । स्त्रियां, नद्यः । सम् = संस्रवन्तु । उपसर्गवशात् स्रवन्तु इति सर्वत्र अनुषज्यते । अनुकूलाः प्रवर्तन्ताम् । वाताः । १ । ११ । ६ । विविधपवनाः । सम् । सम्यग् अनुकूलाश्चरन्तु । पतत्रिणः । पतत्रं पक्षः । अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । इति पतत्र-इनि मत्वर्थे । पक्षिणः । इमम् । प्रवृतमानम् । यज्ञम् । १ । ६ । ४ । यागं विदुषां पूजनम् । प्र-दिवः । प्र + दिवु द्युतिस्तुतिगत्यादिषु-क्विप् । प्रकृष्टप्रकाशाः, देवाः, विद्वांसः । जुषन्ताम् । जुषी प्रीतिसेवनयोः-लोट् । सेवन्ताम्, स्वीकुर्वन्तु । सम्—स्राव्येण । स्रु गतौ-ण । तस्येदम् । पा० ४ ।

पक्षी आदि सब जीवों को अनुकूल रक्खें, और विज्ञान पूर्वक सब पदार्थों से उपकार लेवें। और विद्वानों में पूर्ण प्रीति और श्रद्धा रक्खें जिससे वह भी उत्साह पूर्वक वर्ताव करें ॥ १ ॥

इहैव हवमा यात म इह संस्रावणा उतेमं वर्धयता गिरः। इहैतु सर्वो यः पशुरस्मिन् तिष्ठतु या रयिः ॥२॥

इह। एव। हवम्। आ। यात। मे। इह। सम्-स्रावणाः। उत। इमम्। वर्धयत। गिरः। इह। आ। एतु। सर्वः। यः। पशुः। अस्मिन्। तिष्ठतु। या। रयिः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(संस्रावणाः) हे बहुत आर्द्रभाववाले [बड़े कोमल स्वभाव] (गिरः) स्तुति योग्य विद्वानो! (इह) यहां पर (इह) यहां पर (एव) ही (मे) मेरे (हवम्) आवाहन को (आयात) तुम पहुंचो, (उत) और (इमम्) इस पुरुष को (वर्धयत) बढ़ाओ। (यः सर्वः पशुः) जो प्रत्येक जीव है [वह] (इह) यहां (एतु) आवे और (या रयिः) जो लक्ष्मी है [वह भी सब] (अस्मिन्) इस पुरुष में (तिष्ठतु) ठहरी रहे ॥ २ ॥

३। १२०। इति संस्राव-यत्। यद्वा। अचोयत्। पा०। ३। १। ९७। इति सम्+स्रु-णिच-यत्। संस्राव्येण सम्यक् स्रवणेन आर्द्रभावेन युक्तेन। हविषा। १। ४। ३। आत्मदानेन, भक्त्या। जुहोमि। हु दानादानादनेषु-लट्। अहम् आददे, स्वीकरोमि तान् प्रदिवः ॥

२—हवम्। भावेऽनुपसर्गस्य। पा० ३। ३। ७५। इति ह्वेञ् आह्वाने, स्पर्धे च—अप्। आह्वानम्, आवाहनम्। आ+यात। या गतौ-लोट्। आगच्छत। इह। नित्यवीप्सयोः। पा० ८। १। ४। इति वीप्सायां इह शब्दस्य द्विर्वचनम्। अस्मिन्नेव यज्ञे। सम्-स्रावणाः। स्रु स्रवणे गतौ-णिचि-ल्युट्। युवोरनाकौ। पा० ७। १। १। इति अन आदेशः। अर्श आदिभ्योऽच्। पा० ५। २। १२७। इति मत्वर्थे अच्। हे संस्रावेण सम्यक् स्रवणेन, अत्यार्द्र भावेन युक्ताः। इमम्। उपस्थितं माम्। वर्धयत। वृधु वृद्धौ णिचि लोट्, छन्दसि दीर्घः।

भावार्थ—विद्वान् लोग विद्या के बल से संसार की उन्नति करते हैं, इससे मनुष्य विद्वानों का सत्संग पाकर सदा अपनी वृद्धि करें और उपकारी जीवों और धन का उपार्जन पूर्ण शक्ति से करते रहें ॥

टिप्पणी—पशु शब्द जीव वाची है, अथर्ववेद का० २ सू०३४ म० १ ॥

य ईशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम्॥१॥

जो (पशुपतिः) जीवों का स्वामी चौपाये और जो दो पाये (पशूनाम्) जीवों का (ईशे=ईष्टे) राजा है ॥ १ ॥

ये नदीनां संस्रवन्त्युत्सासः सदमक्षिताः ।
तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि ॥ ३ ॥

ये । नदीनाम् । सम्-स्रवन्ति । उत्सासः । सदम् । अक्षिताः ।
तेभिः । मे । सर्वैः । सम्-स्रावैः । धनम् । सम् । स्रावयामसि ॥३॥

भावार्थ—(नदीनाम्) नाद करनेवाली नदियों के (ये) जो (अक्षिताः) अक्षय (उत्सासः) सोते (सदम्) सर्वदा (संस्रवन्ति) मिलकर बहते हैं । (तेभिः सर्वैः) उन सब (संस्रावैः) जल प्रवाहों के साथ (मे) अपने (धनम्) धनको (सम्) उत्तम रीति से (स्रावयामसि) हम व्यय करें ॥ ३ ॥

समर्धयत । गिरः । गृणातिः स्तुतिकर्मा-निरु० ३ । ५ । अर्चतिकर्मा-निघ० ३ । १४ । गॄ शब्दे—कर्मणि क्विप् । गीर्यन्ते स्तूयन्त इति गिरः । हे अर्चनीयाः, स्तुत्याः पुरुषाः । आ+एतु । आगच्छतु । पशुः । अर्जिदृशिकम्यमि० । उ० १ । २७ । इति दृशिर् प्रेक्षणे—कु, पश्यादेशः । पशुः पश्यतेः—निरु० ३ । १६ । प्राणिमात्रम्, जीवः । अथवा । गवाश्वगजादिरूपः । अस्मिन् । मयि, मदीये आत्मनि । तिष्ठतु । निवसतु । रयिः । अच इः । उ० ४ । १३९ । इति रीङ् गतौ-इ प्रत्ययः । गुणः । यद्वा । रा दानग्रहणयोः-इ प्रत्ययः, युगागमो धातोर्ह्रस्वश्च । धनम ॥ २ ॥

३—नदीनाम् । १ । ८ । १ । नदनशीलानां सरिताम्, सरस्वतीनाम् । सम्-स्रवन्ति । सम्भूय प्रवहन्ति । उत्सासः । उन्दिगुधिकुपिभ्यश्च । उ०

भावार्थ—जैसे पर्वतों पर जल के सोते मिलने से वेगवती और उपकारिणी नदियें बनती हैं जो ग्रीष्मऋतु में भी नहीं सूखतीं, इसी प्रकार हम सब मिलकर विज्ञान और उत्साह पूर्वक तडित्, अग्नि, वायु, सूर्य, जल, पृथिवी आदि पदार्थों से उपकार लेकर अक्षयधन बढ़ावें। और उसे उत्तम कर्मों में व्यय करें ॥ ३ ॥

ये स॒र्पिषः॑ सं॒स्रव॑न्ति क्षी॒रस्य॑ चोद॒कस्य॑ च ।
तेभि॑र्मे॒ सर्वैः॑ संस्रा॒वैर्धनं॒ सं स्रा॑वयामसि ॥ ४ ॥

ये । स॒र्पिषः॑ । स॒म्-स्रव॑न्ति । क्षी॒रस्य॑ । च॒ । उ॒द॒कस्य॑ । च॒ ।
तेभिः॑ । मे॒ । सर्वैः॑ । स॒म्-स्रा॒वैः । धन॑म् । सम् । स्रा॒व॒या॒म॒सि॒ ॥४॥

भाषार्थ—(सर्पिषः) घृत की (च) और (क्षीरस्य) दूध की (च) और (उदकस्य) जलकी (ये) जो धारायें (संस्रवन्ति) मिलकर बह चलतीं हैं। (तैः सर्वैः) उन सब (संस्रावैः) धाराओं के साथ (मे) अपने (धनम्) धनको (सम्) उत्तम रीति से (स्रावयामसि) हम व्यय करें ॥ ४ ॥

---

३ । ६८ । इति उन्दी क्लेदे—स प्रत्ययः । आज्जसेरसुक् । पा० । ७ । १ । ५० । इति जसि असुक् आगमः । उत्सः कूपनाम-निघ० ३ । २३ । जलस्रवणस्थानानि, स्रोतांसि । **सदम्** । सर्वदा, ग्रीष्मादावपि । **अक्षिताः** । क्षि क्षये-क्त । अक्षीणाः । **तेभिः** । बहुलंछन्दसि । पा० ७ । १ । १० । इति भिस ऐसभावः । तैः । **मे** । मम =अस्माकम् । एकवचनं बहुवचने । **सम्-स्रावैः** । श्याऽऽद्व्यधास्रुसंस्र्वतीण० । पा० ३ । १ । १४१ । इति सम्+स्रु स्रवणे-ण प्रत्ययः । अचो ञ्णिति । पा० ७ । २ । ११५ । इति वृद्धिः । प्रवाहैः । **धनम्** । धन धान्ये—अच्, यद्वा, कृपॄवृजिमन्दिनिधाञः क्युः । उ० २ । ८१ । इति डुधाञ् धारणपोषणयोः क्यु । वित्तम्, सम्पदम् । **स्रावयामसि** । स्रु स्रवणे-णिचि लट्, इदन्तो मसिः : पा० ७ । १ । ४६ । इति मस इदन्तता । स्रावयामः, प्रवाहयामः, व्ययं कुर्मः ॥

४—**ये** । संस्रावाः प्रवाहाः । **सर्पिषः** । अर्चिशुचिहुसृपि० । उ० २ । १०८ । इति सृप गतौ=सर्पणे-इसि । सर्पणशीलस्य द्रवणस्वभावस्य घृतस्य । **क्षीरस्य**—घसेः किच्च । उ० ४।३४ । इति घस=अद भक्षणे-ईरन्, उपधालोपे कत्वं षत्वं च । दुग्धस्य । **उदकस्य**-उदकं च । उ० २ । ३९ । इति उन्दी

भावार्थ—जैसे घी, दूध और जल की बूंद बूंद मिलकर धारें बंध जाती और उपकारी होती हैं, इसी प्रकार हम लोग उद्योग करके थोड़ा थोड़ा संचय करने से बहुत सा विद्या धन और सुवर्ण आदि धन प्राप्त करके उत्तम कामों में व्यय करें ॥ ४ ॥

सूक्तम् १६ ॥

१—३ ॥ १ अग्निः, २ वरुणाग्नीन्द्राः, ३—४ सीसं देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

विघ्ननाशनोपदेशः—विघ्न के नाश का उपदेश ॥

येऽमावास्यां३ रात्रिमुदस्थुर्व्राजमत्त्रिणः ।
अग्निस्तुरीयो यातुहा सो अस्मभ्यमधि ब्रवत् ॥ १ ॥

ये । अमा-वास्याम् । रात्रिम् । उत्-अस्थुः । व्राजम् । अत्त्रिणः ।
अग्निः । तुरीयः । यातु-हा । सः । अस्मभ्यम् । अधि । ब्रवत् ॥१॥

भावार्थ—(ये) वे जो (अत्रिणः) उदर पोषक [खाऊ लोग] (अमावास्याम्) अमावसी में (रात्रिम्) विश्राम देने हारी रात्रि को (व्राजम्) गोशालाओं पर [अथवा समूह के समूह] (उदस्थुः) चढ़ आये हैं । (सः) वह (तुरीयः) वेगवान् (यातुहा) राक्षसों का नाश करने हारा (अग्निः) अग्नि [अग्नि सदृश तेजस्वी राजा] (अस्मभ्यम्)हमारे हित के लिये (अधि) [उन पर] अधिकार जमा कर (ब्रवत्) घोषणा दे ॥ १ ॥

क्लेदने-कुन् युवोरनाकौ । पा० ७ । १ । १ । इति अकादेशः । जलस्य । अन्यद् व्याख्यातं म० ॥ ३ ॥

१—अमा-वास्याम् । अमा+वस निवासे-घञ् । अमा साहित्येन चन्द्रार्कयोर्वासो यत्र । पिद्गौरादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ४१ । इति ङीष् । उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य । पा० ८ । २ । ४ । इति स्वरितः । अमावस्यायां रात्रौ, महान्धकारे । रात्रिम् । राशदिभ्यां त्रिप् । उ० ४ । ६७ । इति रा दानग्रहणयोः-त्रिप्, ददाति विश्रामं, गृह्णाति श्रमं च । कालाध्वनोरत्यन्त-

भावार्थ—जो दुष्ट जन अन्धेरी रातों में गोशाला आदि पर धावा करके प्रजा को सतावें तो प्रतापी राजा ऐसे राक्षसों से रक्षा करके राज्य भर में शान्ति फैलावे ॥ १ ॥

सीसा॒याध्या॑ह॒ वरु॑णः॒ सीसा॑याग्निरुपा॑वति ।

सीसं॑ म॒ इन्द्रः॒ प्राय॑च्छ॒त् तद॒ङ्ग या॑तु॒चात॑नम् ॥ २ ॥

सीसा॑य । अधि॑ । आ॒ह॒ । वरु॑णः । सीसा॑य । अ॒ग्निः । उप॑ । अ॒व॒ति॒ ।
सीस॑म् । मे॒ । इन्द्रः॑ । प्र । अ॒य॒च्छ॒त् । तत् । अ॒ङ्ग । या॒तु॒-चात॑नम् ॥२॥

भाषार्थ—(वरुणः) चाहने योग्य, समुद्रादि का जल (सीसाय) बन्धन काटने वाले सामर्थ्य [ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति] के लिये (अधि) अधिकार पूर्वक (आह) कहता है, (अग्निः) व्यापक, सूर्य, बिजुली आदि अग्नि (सीसाय) बन्धन काटने वाले सामर्थ्य [ब्रह्मज्ञान] के लिये (उप) समीप रह कर (अवति) रक्षा करता है । (इन्द्रः) महा प्रतापी परमेश्वर ने (सीसम्) बन्धन काटने वाला सामर्थ्य [ब्रह्मज्ञान] (मे) मुझ को (प्र-अयच्छत्) दिया है, (अङ्ग) हे भाई (तत्) वह सामर्थ्य (यातुचातनम्) पीड़ानाशक है॥२॥

संयोगे । पा०२ । ३ । ५ । इति द्वितीया । रजनीम् । निशाकाले । **उत्-अस्थुः** । ष्ठा गतिनिवृत्तौ-लुङ् । उत्थितवन्तः, संचरणं कृतवन्तः । **व्राजम्** । तस्य समूहः पा० ४ । २ । ३७ । इति व्रज-अण् समूहे, नपुंसकत्वम् । गोष्ठसमूहम् । अथवा । क्रिया विशेषणम् । व्रजः = समूहः-अण् । अतिसमूहेन । **अत्त्रिणः** । १ । ७ । ३ । अदनशीलाः, स्वार्थिनः, उदरपोषकाः । **अग्निः** । १ । ६ । २ । अग्निवत् तेजस्वी राजा । **तुरीयः** । तुरो वेगः । घच्छौ च । पा० ४ । ४ । ११७ । इति तुर-छः प्रत्ययः, तत्रभव इत्यर्थे । वेगवान् । **यातुहा** । कृवापाजिमि० उ० १ । १ । इति यत ताड़ने - उण् । यातयतीति यातुः, राक्षसः । बहुलं छन्दसि । पा० ३ । २ । ८८ । इति यातूपपदे हन हिंसागत्योः—क्विप् । राक्षसघातकः । दुष्टनाशकः । **अधि** । अधिकृत्य, स्वामित्वेन । **ब्रवत्** । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि—लेट् । ब्रूयात् ॥

२—**सीसाय** । षिञ् बन्धने-क्विप् + षो नाशने-क । पृषोदरादित्वात् तुक लोपे दीर्घः । सीं सितं बन्धं प्रतिबन्धं स्यति नाशयतीति सीसम् । प्रतिबन्धस्य

भावार्थ—जल, अग्नि, वायु, आदि पदार्थ ईश्वर की आज्ञा से परस्पर मिलकर हमारे लिये बाहिर और भीतर से उपकारी होते हैं। वह ब्रह्मज्ञान प्रत्येक मनुष्य आदि प्राणी को परमेश्वर ने दिया है उस ज्ञान को साक्षात् करके प्राणी दुःखों से छूट कर शारीरिक, आत्मिक और समाजिक आनन्द पाते हैं॥ २॥

टिप्पणी—(सीस) शब्द का धात्वर्थ [षिञ् बांधना—क्विप्+षो नाश करना-कप्रत्यय] बन्धन का काटने वाला है। लोक में वस्तु विशेष,सीसा को कहते हैं। सायण भाष्य में (सीस) का अर्थ "नदी के फेन आदि रूप द्रव्यं" और ग्रिफ् फ़िथ साहिब ने (lead) सीसा धातु विशेष किया है॥

इदं विष्कन्धं सहत इदं बाधते अत्त्रिणः।

अनेन विश्वा ससहे या जातानि पिशाच्याः॥ ३॥

इदम्। वि-स्कन्धम्। सहते। इदम्। बाधते। अत्त्रिणः।

अनेन। विश्वा। ससहे। या। जातानि। पिशाच्याः॥ ३॥

भावार्थ—(इदम्) यह [सामर्थ्य] (विष्कन्धम्) विघ्न को (सहते) जीतता है। और (इदम्) यह (अत्त्रिणः) उदर पोषक खाउओं को (बाधते) हटाता है। (अनेन) इससे (विश्वा=विश्वानि) उन सब दुःखों को (ससहे) मैं

विघ्नस्य नाशकसामर्थ्याय। ब्रह्मज्ञानप्राप्तये। **अधि**। अधिकारेण। **आह**। ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि-लट्। ब्रवीति। **वरुणः**। १। ३। ३। वरणीयं समुद्रादि-जलम्। **अग्निः**। १। ६। २। व्यापकः। सूर्यविद्युदादिरूपोऽग्निः। **उप**। उपेत्य। **अवति**। रक्षति। व्याप्नोति। **इन्द्रः**। १। २। ३। महाप्रतापी परमेश्वरः। **प्र-अयच्छत्**। पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्। पा० ७। ३। ७८। इति दाण् दाने-यच्छादेशः-लङ्। प्रादात्। **तत्**। निर्दिष्टं सीसम्। **अङ्ग**। सम्बोधने। हे सखे। **यातु-चातनम्**। कृवापाजिमि०। उ० १। १। यत ताडने-उण्। चातयति नाशने-निरु० ६। ३०। पीडानाशकम्। राक्षसनाशकम्॥

३-**इदम्**। सीसम्। **विस्कन्धम्**। वि विकारे+स्कन्दिर् गतिशोषणयोः-अच्। दस्य धः। वेः स्कन्देरनिष्ठायाम्। प० ८। ३। ७३। इति षत्वम् यद्वा,

जीतता हूं (या=यानि) जो (पिशाच्याः) मांस खाने हारी [कुवासना] से (जातानि) उत्पन्न हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—दूरदर्शी पुरुषार्थी मनुष्य उत्तम ज्ञान के सामर्थ्य से अपने क्लेशों के कारण को जानते और कुवासनाओं के कुसंस्कारों को अपने हृदय में नहीं जमने देते ॥ ३ ॥

भगवान् पतञ्जलि जी ने कहा है— योगदर्शन पाद २ सूत्र १६ ॥

हेयं दुःखमनागतम् ॥

न आया हुआ [परन्तु आने वाला] दुःख हटाना चाहिये ॥

यदि॑ नो॒ गां हं॒सि यद्यश्वं॒ यदि॒ पूरु॑षम् ।
तं त्वा॒ सीसे॑न विध्यामो॒ यथा॒ नोऽसो॒ अवी॑रहा ॥४॥

यदि॑ । नः॒ । गाम् । हं॒सि । यदि॑ । अश्व॑म् । यदि॑ । पुरु॑षम् ।
तम् । त्वा॒ । सीसे॑न । वि॒ध्यामः॑ । यथा॑ । नः॒ । असः॑ । अवीर-हा ॥४॥

भाषार्थ—(यदि) जो (नः) हमारी (गाम्) गाय को, (यदि) जो (अश्वम्)

विष्क हिंसायाम्—क+धाञ्—ड । हिंसां दधातीति । विशेषेण शोषकम् । विघ्नम् सहते । षह अभिभवे । अभिभवति जयति । बाधते । बाध प्रतिबन्धे प्रतिरोधे-लट् । प्रतिबध्नाति, निवारयति । अत्त्रिणः । म० १ । अदनस्वभावान् राक्षसान् । अनेन । सीसेन । सहे । बहुलं छन्दसि । पा० २ । ४ । ७६ । इति षह अभिभवे लटि शपः श्लुः । अहम् अभिभवामि । । जातानि । जनी प्रादुर्भावे-कर्त्तरि क्त । उत्पन्नानि । अपत्यरूपाणि दुष्टाचरणानि । पिशाच्याः । कर्मण्यण् । पा० ३ । २ । १ । इति पिशित+अश भक्षणे-अण् । पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् । पा० ६ । ३ । १०६ । इति रूपसिद्धिः । पिशितं मांसमश्नातीति पिशाचः । अथवा । इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । इति पिश अवयवे-क । इति पिशः पिशितम् । पुनः । पिश+आङ्+चम भक्षणे-ड प्रत्ययः । पिशं पिशितं मांसम् आचमति सम्यग् भक्षयतीति पि [illegible]चः ।प्राणिनां मांसभक्षी पिशिताशी ।ततो ङीप् । मांसभक्षिण्याः।राक्षसीरूपायाः कुवासनायाः॥

४—यदि । संभावनायाम् । चेत् । गाम् । १।२।३ । गोजातिम् । हंसि ।

घोड़े को और (यदि) जो (पुरुषम्) पुरुष को (हंसि) तू मारता है। (तम् त्वा) उस तुझको (सीसेन) बन्धन काटनेहारे सामर्थ्य [ब्रह्मज्ञान] से (विध्यामः) हम वेधते हैं (यथा) जिस से तू (नः) हमारे (अवीरहा असः) वीरों का नाश करने हारा न होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य वर्तमान क्लेशों को देखकर आने वाली क्लेशों को यत्न पूर्वक रोककर आनन्द भोगें ॥४॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥



हन हिंसागत्योः—लट्। मारयसि। नाशयसि। **अश्वम्** । अशूप्रुषि लटि०। उ० १। १५१। इति अशूङ् व्याप्तौ—क्वन्। यद्वा, अश भोजने—क्वन्। अश्वः कस्माद्-श्नुतेऽध्वानं महाशनो भवतीति—निरु० २। २७। जातावेकवचनम्। घोटम्। तुरङ्गम्। **पूरुषम्** । पुरः कुषन्। उ० ४। ७४। पुर अग्रगतौ—कुषन्। अन्येषामपि दृश्यते। पा०६। ३। १३७। इति निपातनाद् दीर्घः। पुरति अग्रे गच्छतीति पुरुषः। नरं, जनम्। **तम्** । तथाविधम्। **त्वा** । त्वां हिंसकम्। **सीसेन** । म० २। विघ्ननाशकसामर्थ्येन, ब्रह्मज्ञानेन। **विध्यामः**। व्यध ताड़ने वेधे—दिवादित्वात् श्यन्। ग्रहिज्यावयिव्यधि०। पा० ६। १। १६। इति संप्रसारणम्। छिन्मः। ताड़यामः; मारयामः। **यथा** । येन प्रकारेण। **असः** । अस सत्तायाम्—लेटि अडागमः। त्वम् भूयाः। **अवीर-हा** । वीरयतीति वीरः, वीर शौर्य्ये—अच्। वीरान् हन्तीति वीरहा, वीर + हन्—क्विप्। न वीरहा अवीरहा। अशूरहन्ता ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ।

सूक्तम् १७ ॥

१—४ हिरा देवता । १—३ अनुष्टुप् ४ गायत्री छन्दः ॥

नाडीछेदनदृष्टान्तेन कुवासनानाशः—नाडीछेदन [फ़सद खोलने] के दृष्टान्त से दुर्वासनाओं के नाश का उपदेश ॥

अमूर्या यन्ति योषितो हिरा लोहितवाससः ।
अभ्रातर इव जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्चसः ॥ १ ॥

अमूः । याः । यन्ति । योषितः । हिराः । लोहित-वाससः ।
अभ्रातरः-इव । जामयः । तिष्ठन्तु । हत-वर्चसः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अमूः) वे (याः) जो (योषितः) सेवा योग्य वा सेवा करने हारी [अथवा स्त्रियों के समान हितकारी] (लोहितवाससः) लोह में ढकी हुयी (हिराः) नाड़ियां (यन्ति) चलती हैं, वे, (अभ्रातरः) बिना भाइयों की (जामयः इव) बहिनों के समान, (हतवर्चसः) निस्तेज होकर (तिष्ठन्तु) ठहर जावें ॥ १ ॥

१—अमूः । १ । ४ । २ । ताः परिदृश्यमानाः । यन्ति । गच्छन्ति योषितः । हसुरुहियुषिभ्य इतिः । उ० १ । ९७ । युष सेवने-इति, अयं सौत्रो धातुः । योषति सेवते युष्यते सेव्यते वा सा योषित् । सेवित्र्यः । सेव्याः, । स्त्रियः ।, हिराः । स्फायितञ्चिवञ्चिशकि० । उ० २ । १३ । इति हि वर्धने गतौ च—रक् टाप् । हिनोति वर्धयति वा गच्छति व्याप्नोति शरीररुधिरादिकमिति हिरा, नाड़ी । सिराः, नाड्यः । लोहित-वाससः । वसेर्णित् । उ० ४ । २१८ । इति लोहित + वस आच्छादने, असुन् । णिद्वद्भावाद् उपधावृद्धिः । रुधिरस्य आच्छा-

भावार्थ—इस सूक्त में सिराछेदन, अर्थात् नाड़ी [फ़स्द] खोलने का वर्णन है। मन्त्र का अभिप्राय यह है कि नाड़ियां रुधिर संचार का मार्ग होने से शरीर की (योषितः) सेवा करने हारी और सेवा योग्य हैं। जब किसी रोग के कारण वैद्य राज नाड़ी छेदन करे और रुधिर निकलने से रोग बढ़ाने में नाड़ियां ऐसी असमर्थ हो जायें जैसे माता पिता और भाइयों के विना कन्यायें असहाय हो जाती हैं, तब नाड़ियों को रुधिर बहने से रोक दे।

२—मनुष्य के सब कार्य कुकामनाओं को रोक कर मर्यादापूर्वक करने से सुफल होते हैं ॥ १ ॥

तिष्ठा॑व॒रे तिष्ठ॑ पर उ॒त त्वं ति॑ष्ठ मध्यमे ।
कनि॒ष्ठिका॑ च॒ तिष्ठ॑ति॒ तिष्ठा॒दिद् ध॒मनि॒र्म॒ही ॥ २ ॥

तिष्ठ॑ । अ॒व॒रे॒ । तिष्ठ॑ । प॒रे॒ । उ॒त । त्वम् । ति॒ष्ठ॒ । म॒ध्य॒मे॒ ।
क॒नि॒ष्ठि॒का । च॒ । तिष्ठ॑ति । तिष्ठा॑त् । इत् । ध॒मनि॑ः । म॒ही ॥ २ ॥

भावार्थ—(अवरे) हे नीचे की [नाड़ी] (तिष्ठ) तू ठहर, (परे) हे ऊपर वाली (तिष्ठ) तू ठहर, (उत) और (मध्यमे) हे बीच वाली (त्वम्) तू (तिष्ठ)

वनभूताः। रक्तवर्णवस्त्राः। **अभ्रातरः** । नप्तृत्वष्टृ० । उ० २ । ९६ । इति भ्राजृ दीप्तौ-तृन्, निपात्यते । अभ्रातृकाः, सहोदररहिताः, असहायाः इत्यर्थः। **जामयः** । १ । ४ । १ । भगिन्यः। **तिष्ठन्तु** । स्थिता निवृत्तगतयो भवन्तु। **हत-वर्चसः** । सर्वधातुभ्योऽसुन्। उ० ४ । १८९ । इति वर्च दीप्तौ-असुन्। हततेजस्काः, नष्टवीर्याः। रोगोत्पादने असमर्थाः ॥

२—**तिष्ठ** । निवृत्तगतिर्भव । **अवरे** ।१। ८ । ३ । अवर-टाप् । हे निकृष्टे। अधोभागस्थिते हिरे । **परे** । १ । ८ । ३ । हे श्रेष्ठे, ऊर्ध्वाङ्गवर्तिनि ! त्वम् । हिरे, सिरे। **मध्यमे** । मध्यान्मः । पा० ४ । ३ । ८ । मध्य-म प्रत्ययो भवार्थे। हे शरीरमध्यवर्तिनि । **कनिष्ठिका** । युवाल्पयोः कन् अन्यतरस्याम् । पा०५।३।६४ । इति अल्प-इष्ठनि कन् आदेशः। स्वार्थे क प्रत्ययः । प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात इदाप्यसुपः । पा० ७ । ३ । ४४ । इति इत्वं टापि परतः।

ठहर, (च) और (कनिष्ठिका) अति छोटी नाड़ी (तिष्ठति) ठहरती है, (मही) बड़ी (धमनिः) नाड़ी (इत्) भी (तिष्ठात्) ठहर जावे ॥ २ ॥

भावार्थ—१-चिकित्सक सावधानी से सब नाड़ियों को अधिक रुधिर बहने से रोक देवे ॥

२—मनुष्य अपने चित्तकी वृत्तियों को ध्यान देकर कुमार्ग से हटावे, और हड़बड़ी करके अपने कर्तव्य को न बिगड़ने दे किन्तु यत्न पूर्वक सिद्ध करे ॥२॥

शतस्य धमनीनां सहस्रस्य हिराणाम् ।
अस्थुरिन्मध्यमा इमाः साकमन्ता अरंसत ॥ ३ ॥

शतस्य । धमनीनाम् । सहस्रस्य । हिराणाम् ।
अस्थुः । इत् । मध्यमाः । इमाः । साकम् । अन्ताः । अरंसत ॥३॥

भाषार्थ—(शतस्य धमनीनाम्) सौ प्रधान नाड़ियों में से और (सहस्रस्य हिराणाम्) सहस्र शाखा नाड़ियों में से (इमाः) ये सब (मध्यमाः) बीच वालीं (इत्) भी (अस्थुः) ठहर गयीं, (अन्ताः) अन्त की [अवशिष्ट नाड़ियां] (साकम्) एक साथ (अरंसत) क्रीड़ा करने लगीं हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—सिरा छेदन से असंख्य धमनी और सिरा नाड़ियों का रुधिर यथाविधि चिकित्सक निकाल कर बन्ध कर देवे कि नाड़ियां पहिले के समान चेष्टा करने लगें ॥

अल्पतमा, सूक्ष्मतरा नाड़ी । **तिष्ठात्** । ष्ठा गतिनिवृत्तौ-लेट् । लेटोऽडाटौ । पा० ३ । ४ । ९४ । इति आडागमः । अवतिष्ठताम् । **धमनिः** । अर्त्तिसृधृधमि० । उ० २ । १०२ । इति धम ध्माने, ध्वाने च-अनि । सिरा, नाड़ी । **मही** । मह पूजायाम्-अच् । पिद्गौरादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ४१ । इति ङीप् । महती, बृहती स्थूला ॥

३-शतस्य ।—शतसंख्यानां अपरिमितानाम् । **धमनीनाम्** । म० २ । हृदयगतानां प्रधान नाड़ीनाम् । **सहस्रस्य** । अपरिमितानाम् । **हिराणाम्** । म० १ । सिराणाम । सूक्ष्मशाखानाड़ीनाम् । **अस्थुः** । १।१६।१ स्थिता अभूवन् ।

२-मनुष्य अपनी अनन्त चित्त वृत्तियों को कुमार्ग से रोक कर सुमार्ग में चलावें ॥ २ ॥

परि॑ वः॒ सिक॑तावती ध॒नूर्बृ॑ह॒त्य॑क्रमीत् ।
ति॒ष्ठ॑ते॒ लय॑ता॒ सु कम् ॥ ४ ॥

परि॑ । वः॒ । सिक॑ता-वती । ध॒नूः । बृ॒ह॒ती । अ॒क्र॒मी॒त् ।
तिष्ठ॑त । इ॒लय॑त । सु । कम् ।

भाषार्थ—(सिकतावती) सेचन स्वभाव [कोमल रखने वाली] वालू आदि से भरी हुई (बृहती) बड़ी धनूः पट्टी ने (वः) तुम [नाड़ियों] को (परि अक्रमीत्) लपेट लिया है। (तिष्ठत) ठहर जाओ, (सु) अच्छे प्रकार (कम्) सुख से (इलयत) चलो ॥ ४ ॥

भावार्थ, १—(धनूः) अर्थात् धनु चार हाथ परिमाण को कहते हैं। इसी प्रकार की पट्टी से जो सूक्ष्म चूर्ण वालू से वा वालू के समान राल आदि औषध से युक्त होवे चिकित्सक घाव को बांध देवे कि रक्त वहने से ठहर जाये और घाव पुरकर सब नाड़ियां यथा नियम चलने लगें, मन प्रसन्न और शरीर पुष्ट हो।

मध्यमाः । म० २ । मध्यभवाः । साकम् । युगपत् । अन्ताः । अम गतौ-तन् । अन्तिमाः, अवशिष्टाः सर्वा नाड्यः । अरंसत । रमु क्रीडायाम्-लुङ्, यथापूर्वं रमन्ते स्म, चेष्टां कृतवत्यः ॥

४—वः । युष्मान्, नाडीः । सिकतावती । पृषिरञ्जिभ्यां कित् । उ० ३। १११ । इति सिक सेचने-अतच्, टाप् । सेचनवती, कोमलस्वभावयुक्ता। वालुयुक्ता । धनूः । कृपिचमितनिधनिसर्जिखर्जिभ्य ऊः स्त्रियाम् । उ० १। ८०। इति धन धान्योत्पादने, रवे च-ऊ। धनुः=चतुर्हस्तपरिमाणम्। तत्परिमाणवस्त्र-पट्टी। बृहती । वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च । उ० २। ८४। इति बृह वृद्धौ-अति । ङीप्। महती। अक्रमीत् । क्रमु पादविक्षेपे-लुङ्। क्रा-

२—मनुष्य कुमार्ग गामिनी मनो वृत्तियों को रोक कर यत्न पूर्वक हानि पूरी करे, और लाभ के साथ अपनी वृद्धि करे और आनन्द भोगे ॥ ४ ॥

सूक्तम् १८ ॥

१—४ ॥ सविता देवता । १, ४ अनुष्टुप्, २,३ जगती ।

राजधर्मोपदेशः—राजा के लिये धर्म का उपदेश ॥

निर्लक्ष्म्यं ललाम्यं१ निररातिं सुवामसि ।
अथ या भद्रा तानि नः प्रजाया अरातिं नयामसि ॥१॥

निः । लक्ष्म्यम् । ललाम्यम् । निः । अरातिम् । सुवामसि । अथ ।
या । भद्रा । तानि । नः । प्र-जायै । अरातिम् । नयामसि ॥१॥

भाषार्थ—(ललाम्यम्=०—मीम्) [धर्म से] रुचि हटाने वाली (निर्लक्ष्म्यम्=०—क्ष्मीम्) अलक्ष्मी [निर्धनता] और (अरातिम्) शत्रुता को (निः सुवामसि=०-मः) हम निकाल देवें। (अथ) और (या=यानि) जो (भद्रा=भद्राणि) मंगल हैं (तानि) उनको (नः) अपनी (प्रजायै) प्रजा के लिये (अरातिम्) सुख न देने हारे शत्रु से (नयामसि=०—मः) हम लावें ॥ १ ॥

न्तवती, व्याप्तवती। तिष्ठत । निवृत्तगतयो भवत । इलयत । इल गतौ । गच्छत, चेष्टध्वम् । कम् । सुखेन ॥

१—निः+लक्ष्म्यम् । नॄ नये-क्विप् । ऋत इद्धातोः । पा० ७ । १ । १०० । इति धातोरङ्गस्य इत् । इति निर् । लक्षेर्मुट् च । उ०३।१६०। इनि लक्ष दर्शनाङ्कनयोः-ईप्रत्ययो मुडागमः । लक्ष्यते दृश्यते सा लक्ष्मीः । वा छन्दसि । पा० ६ । १।१०६। इति अमि पूर्वरूपाभावे । इको यणचि । पा०६।१।७७। इति यणादेशः । उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य । पा०८।२।४। इति यणः परतोऽनुदात्तस्य स्वरितत्वम् । निर्लक्ष्मीम्, अलक्ष्मीम्, निर्धनताम्, दुर्भाग्यताम् । ललाम्यम् । लल ईप्से-अच् । ततः । अवितॄस्तृतन्त्रिभ्य ईः । उ०३।१५८ । इति बाहुलकात्, अम रोगे, पीडने-ईप्रत्ययः । ललम् इच्छां शुभरुचिं आमयति नाशय-

भावार्थ—राजा अपने और प्रजा की निर्धनता आदि दुर्लक्षणों को मिटावे और शत्रु को दण्ड देकर प्रजा में आनन्द फैलावे ॥ १ ॥

सायण भाष्य में (लक्ष्म्यम्) के स्थान में [लक्ष्मम्] पाठ है ॥ १ ॥

निररणिं सविता साविषत् पदोर्निर्हस्तयोर्वरुणो मित्रो अर्यमा । निरस्मभ्यमनुमती रराणा प्रेमां देवा असाविषुः सौभगाय ॥ २ ॥

निः । अरणिम् । सविता । साविषत् । पदोः । निः । हस्तयोः । वरुणः । मित्रः । अर्यमा । निः । अस्मभ्यम् । अनु-मतिः । रराणा । प्र । इमाम् । देवाः । असाविषुः । सौभगाय ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सविता) [सब का चलाने हारा], सूर्य [सूर्य रूप तेजस्वी], (वरुणः) सब के चाहने योग्य जल [जल समान शान्त स्वभाव],(मित्रः) चेष्टा

तीति ललामीः । पूर्ववत् यण् स्वरितत्वं च । ललामीम्, शुभरुचिनाशिनीम् । निर् । नॄ नयने-क्विप्, न दीर्घः । ॠत इद्धातोः । पा० ७ । १ । १०० । इति इकारः । पहिर्भावे । निश्चये । अरातिम् । क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् । पा० ३ । ३ । १७४ । इति रा दाने-क्तिच् । यद्वा, रा-क्तिन् । न राति ददाति सुखम्, नञ्-समासः । सुखस्य अदातारम् शत्रुम् । शत्रुताम्, दुष्टताम् । निः+सुवामसि । षू प्रेरणे, तुदादिः-लट् । मस इदन्तत्वम् । व्यवहिताश्च । पा० १ । ४ । ८२ । इति उपसर्गस्य व्यवधानम् । निःसुवामः, निःसारयामः । अथ । अनन्तरम् । भद्रा । ऋजेन्द्राग्रवज्र० । उ० २ । २८ । इति भदि कल्याणे-रन् । निपात्यते च । भद्राणि, मङ्गलानि । तानि । उदीरितानि भद्राणि । नः । अस्माकम्, स्वकीयायै । प्र-जायै । उपसर्गे च संज्ञायाम् । पा० ३ । २ । ९९ । इति जनी प्रादुर्भावे-ड प्रत्ययः । जनाय । अरातिम् । शत्रुम् । शत्रुसकाशात् । नयामसि । णीञ् प्रापणे, द्विकर्मकः । मस इदन्तत्वम् । प्रापयामः ॥

२—निर् । म० १ । निश्चयेन । नितराम् । वहिर्भावे । अरणिम् । अर्त्तिसृधृ० । उ० २ । १०२ । ऋ हिंसने-अनि । आर्त्तिम्, पीड़ाम् । सविता ।

देने हारा वायु [वायु समान वेगवान् उपकारी], (अर्यमा) श्रेष्ठों का मान करने हारा न्याय कारी राजा (अरणिम्) पीड़ा को (पदोः) दोनों पदों और (हस्तयोः) दोनों हाथों से (निः) निरन्तर (निः साविषत्) निकाल देवे। (रराणा) दानशीला (अनुमतिः)अनुकूल बुद्धि (अस्मभ्यम्)हमारे लिये (निः = निः साविषत्) [पीड़ा को) निकाल देवे, (देवाः) उदार चित्त वाले महात्माओं ने (इमाम्) इस [अनुकूल बुद्धि]को (सौभगाय) बड़े ऐश्वर्य के लिये (प्र असाविषुः) भेजा है॥२॥

भावार्थ—मन्त्रोक्त शुभ लक्षणों वाला राजा और प्रजा परस्पर हितबुद्धि से और शुभचिन्तक महात्माओं के सहाय से क्लेशों का नाश करके सब का ऐश्वर्य बढ़ावें ॥ २ ॥

टिप्पणी—सायण भाष्य में (अरणिम्) के स्थान में [अरणीम्] है और बंबई गवर्नमेन्ट के पुस्तक में लिखे [साविषक्] के स्थान में सायण भाष्य में और अन्य दोनों पुस्तकों में (साविषत्) पद है, वही पाठ हमने रक्खा है। गवर्नमेन्ट पुस्तक में टिप्पणी है कि [साविषक्] शब्द शोधकर लिखा है, परन्तु यह अशुद्ध है क्योंकि अथर्व०६।१।३ में, ७।७७।७ में और ६।१५।४ में (सविता साविषत्) पाठ है वही (सविता साविषत्) यहां भी शुद्ध है ॥

षूञ् प्रसवे प्रेरणे-तृच्। सर्वस्य प्रसविता = उत्पादकः। निरु० १०।१। सर्वप्रेरकः सूर्यः। **निः+साविषत्**। षूञ् प्रेरणे-लेट्। निःसुवतु, निःसारयतु। **पदोः**। पद्दन्नोमास्०। पा० ६।१।६३। इति पाद शब्दस्य पद् आदेशः। पादयोः सकाशात्। **हस्तयोः**। हसिमृग्रिण्वामि०। उ० ३।८६। इति हस विकाशे-तन्। करयोः सकाशात्। **वरुणः**। १।३।३। वरणीयं जलम्। **मित्रः**। १।३।३। सर्वप्रेरको वायुः। **अर्यमा**। १।११।१। अर्यान् श्रेष्ठान् मिमीते मानयतीति। न्यायकारी राजा। **अनु-मतिः**। अनु+मन ज्ञाने-क्तिन्। सम्मतिः। अनुकूला, सहायिका बुद्धिः। **रराणा**। रा दाने- कानच्। दानशीला। **देवाः**। पूज्याः, दातारः। **प्र+असाविषुः**। षूञ् प्रेरणे-लुङ्। प्रेरितवन्तः, दत्तवन्तः। **सौभगाय**। प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ्। पा० ५।१।१२६। इति सुभग-भावे अञ्। ञ्नित्यादिर्नित्यम्। पा० ६।१।१९७। इति आद्युदात्तः। सुभगत्वाय, शोभनैश्वर्याय ॥

यत्त॑ आ॒त्मनि॑ त॒न्वां॑ घो॒रमस्ति॒ यद्वा॒ केशे॑षु प्रति॒चक्ष॑णे वा । सर्वं॒ तद्वा॒चाप॑ हन्मो व॒यं दे॒वस्त्वा॑ सवि॒ता सू॑दयतु ॥ ३ ॥

यत् । ते॒ । आ॒त्मनि॑ । त॒न्वा॑म् । घो॒रम् । अस्ति॑ । यत् । वा॒ । केशे॑षु । प्र॒ति॒-चक्ष॑णे । वा॒ । सर्व॑म् । तत् । वा॒चा । अप॑ । ह॒न्म॒ः । व॒यम् । दे॒वः । त्वा॒ । स॒वि॒ता । सू॒द॒य॒तु॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य] ! (यत्) जो कुछ (ते) तेरे (आत्मनि) आत्मा में और (तन्वाम्) शरीर में (वा) अथवा (यत्) जो कुछ (केशेषु) केशों में (वा) अथवा (प्रतिचक्षणे) दृष्टि में (घोरम्) भयानक (अस्ति) है। (वयम्) हम (तत् सर्वम्) उस सबको (वाचा) वाणी से [विद्यावल से] (अप) हटाकर (हन्मः) मिटाये देते हैं। (देवः) दिव्य स्वरूप (सविता) सर्वप्रेरक परमेश्वर (त्वा) तुझ को (सूदयतु) अंगीकार करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य अपने आत्मिक और शारीरिक दुर्गुणों और दुर्लक्षणों को विद्वानों के उपदेश और सत्सङ्ग से छोड़ देता है,परमेश्वर उसे अपना करके अनेक सामर्थ्य देता और आनन्दित करता है ॥ ३ ॥

३—आत्मनि । सातिभ्यां मनिन्मनिणौ । उ० ४ । १५३ । इति अत सातत्यगमने—मनिण् । अतति निरन्तरं कर्मफलानि प्राप्नोतीति आत्मा । स्वभावे, मनसि, जीवे । तन्वाम् । १ । १ । १ । शरीरे, देहे । घोरम् । हन्तेरच् घुर् च । उ० ५ । ६४ । इति हन वधे—अच्, घुरादेशः । हन्ति विनाशयतीति । भयंकरं दुर्लक्षणम् । केशेषु । के मस्तके शेते । शीङ् शयने—अच् । अलुक्-समासः । अथवा । क्लिशेरन् लो लोपश्च । उ० ५ । ३३ । इति क्लिश उपतापे-अन्, ल लोपः । बालेषु, शिरोरुहेषु । प्रति-चक्षणे । चष्टे, पश्यति कर्मा-निघ० ३ । ११ । चक्षिङ् कथने, दर्शने च-करणे ल्युट् । दर्शनसाधने चक्षुषि । वाचा । १ । १ । १ । वाण्या । सरस्वतीद्वारा । विद्याद्वारा । अप । वर्जयित्वा । हन्मः । नाशयामः । वयम् । उपासकाः । त्वा । त्वाम् आत्मानम् । सविता । सर्वप्रेरकः । सर्वपिता परमात्मा । सूदयतु । षूद आश्रुतिक्षरणयोः—लोट्, आश्रुतिरङ्गीकारः आशृणोतु, अङ्गीकरोतु ॥

रिश्यपदीं वृषदतीं गोषेधां विधमामुत ।
विलीढ्यं ललाम्यं ता अस्मन्नाशयामसि ॥४॥

रिश्य-पदीम् । वृष-दतीम् । गो-सेधाम् । वि-धमाम् । उत ।
विलीढ्यम् । ललाम्यम् । ताः । अस्मत् । नाशयामसि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(रिश्यपदीम्) हरिण के समान [विना जमाये शीघ्र] पद की चेष्टा, (वृषदतीम्) बैल के समान दांत चबाना. (गोषेधाम्) बैल की सी चाल, (उत) और (विधमाम्) बिगड़ी भाथी [धौंकनी] के समान श्वास क्रिया, (ललाम्यम्=०-मीम्) रुचि नाश करने हारी (विलीढ्यम्=०—ढिम्) चाटने की बुरी प्रकृति, (ताः) इन सब [कुचेष्टाओं] को (अस्मत्) अपने से (नाशयामसि=०-मः) हम नाश करें ॥ ४ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष मनुष्यस्वभाव से विरुद्ध कुचेष्टाओं को छोड़ कर विद्वानों के सदसङ्ग से सुन्दर स्वभाव बनावें और मनुष्य जन्म को सुफल करके आनन्द भोगें ॥ ४ ॥

टिप्पणी—सायणभाष्य में (रिश्यपदीम्) के स्थान में (ऋश्यपदीम्) पाठ है । और जो (विलीढ्यम, ललाम्यम्) पदों को नपुंसक लिङ्ग माना है वह

४—**रिश्य-पदीम्** । रिश हिंसे-क्यप् । रिश्यते हिंस्यते—इति रिश्यः, मृगः । पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः । पा०५। ४। १३८ । इति पादस्य अन्त्यलोपः । पादोऽन्यतरस्याम् । पा० ४ । १ । ८ । इति ङीप्, भसंज्ञायां । पादः पत् । पा० ६ । ४ । १३० । इति पद्भावः । हरिणपदवत् गतिं कुचेष्टाम् । **वृष-दतीम्** । अग्रान्तशुद्धशुभ्रवृषवराहेभ्यश्च । पा० ५ । ४ । १४५ । इति दन्त शब्दस्य दतृ आदेशः । उगितश्च । पा० ४ । १ । ६ । इति ङीप् । वृषदन्तवत् क्रियायुक्तां कुचेष्टाम् । **गो-सेधाम्** । षिधु गत्याम्—पचाद्यच् । टाप् । वृषभवद् गतिं चेष्टाम् **वि-धमाम्** । वि विकृतौ + ध्मा, धम वा, दीर्घश्वासहेतुके शब्दभेदे-अच् । टाप् । विधमावद् विकृतभस्त्रावत् श्वासक्रियाम् । **विलीढ्यम्** । वि विकृतौ + लिह आस्वादने + क्तिन् । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति अमि पूर्वरूपाभावे । इको यणचि । पा०६ । १ । ७७ । इति यण् आदेशः । उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य । पा० ८ । २ । ४ । इति यणः परतोऽनुदात्तस्यस्वरितः ।

अशुद्ध है क्योंकि मन्त्र में (ताः) स्त्रीलिङ्ग सर्वनाम होने से ऊपर के सब छह पद स्त्रीलिंग हैं ॥

सूक्तम् १९ ॥

१-४ ॥ इन्द्रो देवता ॥ जयन्यायौ । १,२,४ अनुष्टुप्, ३ पंक्तिः ॥

जयन्यायोपदेशः—जय और न्याय का उपदेश ॥

मा नो॑ विदन् विव्या॒धिनो॒ मो अ॑भिव्या॒धिनो॑ विदन् ।
आ॒राच्छ॑र॒व्या॑ अ॒स्मद् विषू॑चीरिन्द्र पातय ॥ १ ॥

मा । नः॒ । वि॒दन् । वि॒-व्या॒धिन॑ः । मो इति॑ । अ॒भि-व्या॒धिनः॑ । वि॒दन् । आ॒रात् । श॒र॒व्याः॑ । अ॒स्मत् । विषू॑चीः । इन्द्र॑ । पा॒त॒य॒ ॥४॥

भावार्थ—(विव्याधिनः) अत्यन्त बेधने हारे शत्रु (नः) हम तक (मा विदन्) न पहुंचें, और (अभिव्याधिनः) चारों ओर से मारने हारे (मो विदन्) कभी न पहुंचें। (इन्द्र) हे परम ऐश्वर्य वाले राजन् (विषूचीः) सब ओर फैले हुए (शरव्याः) बाण समूहों को (अस्मत्) हम से (आरात्) दूर (पातय) गिरा ॥१॥

विलीङ्गिम्, विकृतास्वादनचेष्टाम् । ललाम्यम् । म० १ । ललामीम्, रुचिनाशिनीम् । ताः । पूर्वोक्ताः कुचेष्टाः । नाशयामसि । णश अदर्शने—णिच् । मस इदन्तत्वम् । नाशयामः, दूरीकुर्मः ॥

१—नः । अस्मान् । मा+विदन् । विद्लृ लाभे; माङि लुङि । न माङ्योगे । पा० ६ । ४ । ७४ । इति अडभावः । मा लभन्ताम्, वि-व्याधिनः । सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये । पा० ३ । २ । ७८ । इति वि + व्यध ताडने-णिनिः । विशेषेण छेदकाः, धनुर्धराः । मो । मा+उ । मैव, अभि-व्याधिनः । पूर्ववद् णिनिः । आघातकाः, सर्वतो हननकर्तारः । मो विदन् । मैव प्राप्नुवन्तु स्पृशन्तु । आरात् । दूरदेशे । शरव्याः । शॄस्वृस्निहित्रप्यसि० । उ० १ । १० । इति शॄ हिंसे-उ प्रत्ययः । उगवादिभ्यो यत् । पा० ५ । १ । २ । इति शरु-यत् समूहार्थे । ओर्गुणः । पा० ६।४ । १४६ । इति गुणः । वान्तो यि प्रत्यये ।

भावार्थ—सर्व रक्षक जगदीश्वर पर पूर्ण श्रद्धा करके चतुर सेनापति अपनी सेना को रणक्षेत्र में इस प्रकार खड़ा करे कि शत्रु लोग पास न आसकें और न उनके अस्त्र शस्त्रों के प्रहार किसी के लगें ॥ १ ॥

विष्वंञ्चो अस्मच्छरंवः पतन्तु ये अस्ता ये चास्याः।
दैवीर्मनुष्येषवो ममामित्रान् वि विध्यत ॥ २ ॥

विष्वंञ्चः। अस्मत्। शरंवः। पतन्तु। ये। अस्ताः। ये। च। आस्याः।
दैवीः। मनुष्य-इषवः। मम। अमित्रान्। वि। विध्यत ॥२॥

भाषार्थ—(ये) जो वाण (अस्ताः) छोड़े गये हैं (च) और (ये) जो (आस्याः) छोड़े जायंगे (विष्वञ्चः) [वे] सब ओर फैले हुये (शरवः) वाण (अस्मत्) हम से [दूर] (पतन्तु) गिरें। (दैवीः मनुष्येषवः) हे [हमारे] मनुष्यों के दिव्य वाणो! [वाण चलाने वाले तुम] (मम) मेरे (अमित्रान्) पीड़ा देने हारे शत्रुओं को (विविध्यत) छेद डालो ॥ २ ॥

पा० ६। १। ७८। इति अव् आदेशः। तित् स्वरितम्। पा० ६। १। १८५। इति स्वरितः। शरुसमूहान् शरसंहतीः। अस्मत्। अन्यारादितरर्ते०। पा० २। ३। २९। इति आरात् योगे पञ्चमी। अस्मत्तः। विषूचीः। ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चु०। पा० ३। २। ५९। इति विषु+अञ्चु गतिपूजनयोः–क्विन्। अनिदिताम्०। पा० ६। ४। २४। इति न लोपः। अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्। वा० पा० ४। १। ६। इति ङीप्। अचः। पा० ६। ४। १३८। इति अकारलोपे। चौ। पा० ६। ३। १३८। इति दीर्घः। विष्वक् नानामुखम् अञ्चनशीलाः। सर्वत्रव्यापिनीः। इन्द्र। हे परमेश्वर। पातय। पत–णिच्। प्रक्षिप ॥

२—विष्वञ्चः। म० १। विषु+अञ्चु–क्विन्। विविधगमनाः। शरवः। म० १। शृस्वृस्निहि। उ० १। १०। इति शॄ हिंसायाम्–उ। वाणाः। अस्त्रशस्त्राणि। पतन्तु। निपतन्तु अधोगच्छन्तु। अस्ताः। असु क्षेपणे–क्त। क्षिप्ताः, विनिर्मुक्ताः। आस्याः। ऋहलोर्ण्यत्। पा० ३। १। १२४। इति असु क्षेपणे–ण्यत्। क्षेपणीयाः। दैवीः। देवाद् यञञौ। वार्त्तिकम्, पा०

भावार्थ—सेनापति इस प्रकार अपनी सेना का व्यूह करे कि शत्रुओं के अस्त्र शस्त्र जो चल चुके हैं अथवा चलें वे सेना के न लगें और उस निपुण सेनापति के योद्धाओं के (दैवाः) दिव्य अर्थात् आग्नेय [अग्निबाण] और वारुणेय [जलबाण जो बन्दूक आदि जल में वा जल से छोड़े जावें] अस्त्र शस्त्रों को निरन्तर छेद डालें ॥ २ ॥

इस मन्त्र में वर्तमान काल का अभाव है क्योंकि वह अति सूक्ष्म और वेगवान् है और मनुष्यों को अगम्य है।

यो नः स्वो यो अरणः सजात उत निष्ट्यो यो अस्माँ अभिदासति । रुद्रः शरव्ययैतान् ममामित्रान् वि विध्यतु ॥ ३ ॥

यः । नः । स्वः । यः । अरणः । स-जातः । उत । निष्ट्यः । यः । अस्मान् । अभि-दासति । रुद्रः । शरव्यया । एतान् । मम । अमित्रान् । वि । विध्यतु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (नः) हमारी (स्वः) जाति वाला अथवा (यः) जो (अरणः) न बोलने योग्य शत्रु वा विदेशी, अथवा (सजातः) कुटुम्बी (उत) अथवा

४ । १ । ८५ । इति देव-अञ्, देवस्य इयमित्यर्थे । टिड्ढाणञ् ० । पा० ४ ।१। १५ इति ङीप् । वा छन्दसि पा० ६ । १ । १०६ । इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । ञ्नित्यादिर्नित्यम् । पा० ६ । १ । १९७ । इति आद्युदात्तः । दिव्याः । आग्नेयवारुणादयो बाणाः । मनुष्य-इषवः । मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च । पा० ४ । १ । १६१ । इति मनु-यत् अपत्यार्थे, षुगागमश्च । मनोरपत्यम् मनुष्यः, मनुजः, मानवः । इष गतौ-उ । इषुः, बाणः । मनुष्याणाम् अस्मदीयानाम् इषवः, बाणाः, अस्त्रशस्त्राणि । मम । मदीयान् । अमित्रान् । अमेर्द्विषति चित् । उ० ४ । १७४ । इति अम रोगे, पीडने-इत्रच् । पीडकान शत्रून् । वि । विविधम् । विध्यत । व्यध ताड़ने वेधने-लोट् । छिन्त, भिन्त ॥

३-स्वः । स्वन शब्दे-ड । ज्ञातिः । अरणः । वशिरण्योरप्युपसंख्यानम् । वार्तिकम्, पा० ३ । ३ । ५८ । इति रण शब्दे-कर्मणि अप् । नञ् समासः ।

(यः) जो (निष्ट्यः) वर्णसङ्कर नीच (अस्मान्) हम पर (अभिदासति) चढ़ाई करे (रुद्रः) शत्रुओं को रुलाने वाला महा शूर वीर सेनापति (शरव्यया) बाणों के समूह से (मम) मेरे (एतान्) इन (अमित्रान्) पीड़ा देने हारे वैरियों को (विविध्यतु) छेद डाले ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा को अपने और पराये का पक्षपात छोड़ कर दुष्टों को यथोचित दण्ड देकर राज्य में शान्ति रखनी चाहिये ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध अ० ६ । ७५ । १९ में कुछ भेद से है ॥ ३ ॥

यः स॒पत्नो॒ योऽस॑पत्नो॒ यश्च॑ द्वि॒षञ्छपा॑ति नः ।
दे॒वास्तं सर्वे॑ धूर्वन्तु॒ ब्रह्म॒ वर्म॒ ममान्त॑रम् ॥ ४ ॥

यः । स॒-पत्नः॑ । यः । अस॑पत्नः । यः । च॒ । द्वि॒षन् । शपा॑ति । नः॒ ।
दे॒वाः । तम् । सर्वे॑ । धू॒र्व॒न्तु॒ । ब्रह्म॑ । वर्म॑ । मम॑ । अन्त॑रम् ॥ ४ ॥

अरणीयः, असंभाष्यः । विदेशी जनः । शत्रुः । **सजातः** । १ । ६ । ३ । समानजन्मा, स्वकुटुम्बी । **निष्ट्यः** । अव्ययात् त्यप् । पा० ४ । २ । १०४ । अत्र । निसो गते । इति वार्तिकेन । निस्-त्यप् गतार्थे । ह्रस्वात् तादौ तद्धिते । पा० ८ । ३।१०१ । इति षत्वम् । निर्गतो वर्णाश्रमेभ्यो यः । चाण्डालः,म्लेच्छः । **अस्मान्** । आज्ञाकारिणो धार्मिकान् । **अभिदासति** । दसु उत्क्षेपे, लेट् उत्क्षिपेत् । **अस्माँ अभिदासति** । दीर्घादटि समानपादे । पा०८।३। ९ । इति संहितायां नकारस्य रुत्वम् । आतोऽटि नित्यम् । पा०८।३। ३ । इति आकारस्य अनुनासिकः । **रुद्रः** । रोदेर्णिलुक् च । उ० २ । २२ । इति रुदिर अश्रुविमोचने णयन्तात् रक् प्रत्ययः, णिलुक् च । रोदयति शत्रूनिति । महाशूरः सेनापतिः॥ **शरव्यया** । म० १ । पाशादिभ्यो यः । पा० ४ । २ । ४९ । इति शरु-यप्रत्ययः समूहार्थे । ओर्गुणः । पा० ६ । ४ । १४६ । इति गुणः । वान्तो यि प्रत्यये । पा० ६ । १।७९। इति अव् आदेशः । टाप् च । इति शरव्या तया शरसंहत्या । **अमित्रान्** । म० २ । हिंसकान् शत्रून् । **विध्यतु** । म० २ । विशेषेण छिनत्तु भिनत्तु ॥

भाषार्थ—(यः) जो पुरुष (सपत्नः) प्रतिपक्षी और (यः) जो (असपत्नः) प्रकट प्रतिपक्षी नहीं है (च) और (यः) जो (द्विषन्) द्वेष करता हुआ (नः) हमको (शपाति) कोसे [क्रोशे]। (सर्वे) सब (देवाः) विजयी महात्मा (तम्) उसको (धूर्वन्तु) नाश करें, (ब्रह्म) परमेश्वर, (वर्म) कवच रूप (मम) मेरे (अन्तरम्) भीतर है ॥ ४ ॥

भावार्थ—छान बीन करके प्रकट और अप्रकट प्रतिपक्षियों और अनिष्ट-चिन्तकों को (देवाः) शूरवीर विद्वान् महात्मा नाश कर डालें। वह परब्रह्म सर्वरक्षक, कवच रूप होकर, धर्मात्माओं के रोम रोम में भर रहा है वही आत्म बल देकर युद्ध क्षेत्र में सदा उनकी रक्षा करता है ॥ ४ ॥

मन्त्र का उत्तरार्ध ऋ० ६। ७५। १६। है ॥

सूक्तम् २० ॥

१—४ ॥ सोमो मरुतश्च देवताः। १ जगती, २—४ अनुष्टुप् ॥

शत्रुभ्यो रक्षणोपदेशः—शत्रुओं से रक्षा का उपदेश ॥

अदा॑रसृद् भवतु देव सोमा॒स्मिन् य॒ज्ञे म॑रुतो मृ॒डता॑ नः। मा नो॑ विद॒दभि॒भा मो अश॑स्ति॒र्मा नो॑ विदद् वृ॒जिना॒ द्वेष्या॒ या ॥ १ ॥

अदा॑र-सृत्। भ॒व॒तु॒। दे॒व॒। सो॒म॒। अ॒स्मिन्। य॒ज्ञे। म॒रु॒तः॒। मृ॒डत॑। नः॒। मा। नः॒। वि॒द॒त्। अ॒भि॒-भाः। मो इति॑। अश॑स्तिः। मा। नः॒। वि॒द॒त्। वृ॒जिना॑। द्वेष्या॑। या ॥ १ ॥

४—सपत्नः। १। ६। २। प्रतियोगी, शत्रुः। असपत्नः। अशत्रुः, अप्रकटशत्रुः। द्विषन्। द्विष अप्रीतौ-शतृ। द्वेषं कुर्वन्। शपाति। शप आक्रोशे-लेट्। शपेत्। देवाः। दीप्यमानाः। विजयिनः। शूराः। धूर्वन्तु। धुर्वी हिंसायाम्। हिंसन्तु। नाशयन्तु। ब्रह्म। १। १०। ४। परमेश्वरः। वर्म। सर्वधातुभ्यो मनिन्। उ० ४। १४५। इति वृञ्—मनिन्, वृणोति आच्छादयति शरीरमिति। तनुत्रम्, सर्वथा रक्षकम्। अन्तरम्। यदन्ते समीपे रमते। अन्त + रम-ड। अन्तरात्मा। आभ्यान्तरं मध्ये भवम् ॥

भाषार्थ—(देव)हे प्रकाश मय, (सोम) उत्पन्न करने वाले परमेश्वर ! [वह शत्रु] (अदारसृत्) डर का न पहुंचाने वाला अथवा अपने स्त्री आदि के पास न पहुंचने वाला (भवतु) होवे, (मरुतः) हे [शत्रुओं के] मारने वाले देवताओं ! (अस्मिन्) इस (यज्ञे) पूजनीय काम में (नः) हम पर (मृडत) अनुग्रह करो। (अभिभाः) सन्मुख चमकती हुई, आपत्ति (नः) हम पर (मा विदत्) न आ पड़े,और (मो = मा उ) न कभी (अशस्तिः) अपकीर्ति और (या) जो (द्वेष्या) द्वेषयुक्त (वृजा) पाप बुद्धि है [वह भी] (नः)हम पर (मा विदत्)न आ पड़े ॥१॥

भावार्थ —सब मनुष्य परमेश्वर के सहाय से शत्रुओं को निर्बल कर दें अथवा घर वालों से अलग रक्खें और विद्वान् शूरवीरों से भी सम्मति लेवें जिस से प्रत्येक विपत्ति, अपकीर्त्ति और कुमति हट जाय और निर्विघ्न अभीष्ट सिद्ध होवे ॥ १ ॥

मरुत् देवताओं के बिजुली आदि के विमान हैं,इस पर वैज्ञानिकों को विशेष ध्यान देना चाहिये-ऋग्वेद १ । ८८ । १ । में वर्णन है ॥

आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कैः रथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः। आवर्षिष्ठया न इषा वयो न पप्तता सुमायाः ॥ १ ॥

(मरुतः) हे शूर महात्माओ ! (विद्युन्मद्भिः) बिजुली वाले, (स्वर्कैः)

१—**अदारसृत्** । दारजारौ कर्तरि णिलुक् च । वार्तिकम् । पा० ३ । ३ । २० । इति दॄ विदारणे-णिच्-घञ् । णिलुक् च । सृ गतौ-णिचि क्विप् । दारं दरं भयं सारयतीति दारसृत् । न दारसृत् अदारसृत् अभयप्रापकः,अहानिकरः। अथवा दारयन्ति दुःखानि विदारयन्ति यास्ताः स्त्रियः। स्त्र्यादिगृहस्थाः। दार + सृ-क्विप् । अगृहगामी । **देव** । हे दीप्यमान ! **सोम** । १ । ६ । २ । हे सर्वोत्पादक परमेश्वर ! **यज्ञे** । १ । ९ । ४ । पूज्यकर्मणि यागे, अध्वरे । **मरुतः** । मृग्रोरुतिः । उ०१।९४। इति मृञ् प्राणत्यागे-उति । मारयन्ति नाशयन्ति दुष्टान् दुर्गन्धादिदुर्गुणान् वा ते मरुतः,देवाः । वायुः । ऋत्विजः-निघ०३।१८। मरुत् हिरण्यनाम-निघ० १ । २ । हे शूरवीरा देवाः । **मृडत** । मृड सुखने—लोट् मृडयत, सुखयत । **नः** । अस्मान् [त्रिवारं वर्तते] **मा विदत्** । १। १९ । १ । विद्लृ

अच्छी ज्वाला वाले [वा अच्छे विचारों से बनाये गये] (ऋष्टिमद्भिः) दो-धारा तलवारों वाले [आगे-पीछे, दायें-बायें, ऊपर-नीचे चलाने की कलाओं वाले] (रथेभिः) रथों से (आयात) तुम आओ, और (सुमायाः) हे उत्तम बुद्धि वाले ! (नः) हमारे लिये (वर्षिष्ठया) अति उत्तम (इषा) अन्न के साथ (वयः न) पक्षियों के समान् (आपतत) उड़ कर चले आओ ॥

यो अद्य सेन्यो वधोऽघायूनामुदीरते ।
युवं तं मित्रावरुणावस्मद् यावयतं परि ॥ २ ॥

यः । अद्य । सेन्यः । वधः । अघ-यूनाम् । उत्-ईरते ।
युवम् । तम् । मित्रावरुणौ । अस्मत् । यवयतम् । परि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अद्य) आज (अघायूनाम्) बुरा चीतने वाले शत्रुओं की (सेन्यः) सेना का चलाया हुआ (यः) जो (वधः) शस्त्र प्रहार (उदीरते) उठ रहा है । (मित्रावरुणौ) हे [हमारे] प्राण और अपान (युवम्) तुम दोनों (तम्) उस [शस्त्र प्रहार] को (अस्मत्) हम लोगों से (परि) सर्वथा (यावयतम्) अलग रक्खो ॥ २ ॥

लाभे-लुङ् । मा लभताम् मा प्राप्नोतु । अभि-भाः । अभि, धर्षणे, आभिमुख्ये वा + भा दीप्तौ-क्विप् । अभिभूय भाति दीप्यते । अभिभाः=अभिभूतिः-निरु० ८।४। परोपद्रवः । आपत्तिः । मो । मा-उ । मैव । अशस्तिः । शंसु स्तुतौ-क्तिन् । अकीर्त्तिः । वृजिना । वृजेः किच्च । उ०२ । ४७ इति वृजी वर्जने-इनच् स च कित्, टाप् । यद्वा । अर्श आदिभ्योऽच् । पा०५ । २ । १२७ । इति वृजन-अस्त्यर्थे अच् टाप् च । वृजनं पापमस्यामस्तीति वृजना । वक्रा, कुटिला, पाप-बुद्धिः । द्वेष्या । ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति द्विष अप्रीतौ-कर्मणि ण्यत् । द्वेषणीया, अप्रीता ॥

२—अद्य । १ । १ । १ । वर्तमाने दिने । सेन्यः । भवे छन्दसि । पा०४ । ४ । ११० । इति सेना-यत् । सेनायां भवः । वधः । हनश्च वधः । पा० ३ । ३ । ६७ । इति हन हिंसागत्योः—अप्, वधादेशः । हननसाधनः, शस्त्रप्रहारः । अघा-

भावार्थ—(मित्रावरुणौ) का अर्थ महर्षि दयानन्द सरस्वती ने [य०२।३] प्राण और अपान किया है। जो वायु शरीर के भीतर जाता है वह प्राण और जो बाहिर निकलता है वह अपान कहाता है। जिस समय युद्ध में शत्रु सेना आ दबावे उस समय अपने प्राण और अपान वायु को यथायोग्य सम रखकर और सचेत होकर शरीर में बल बढ़ाकर सैन्यक लोग युद्ध करें, तो शत्रुओं पर शीघ्र जीत पावें॥

२-श्वास के साधने से मनुष्य स्वस्थ और बलवान् होते हैं॥

३—प्राण और अपान के समान उपकारी और बलवान् होकर योद्धा लोग परस्पर रक्षा करें॥

इतश्च यदमुतश्च यद् वधं वरुण यावय ।
वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम् ॥ ३ ॥

इतः । च । यत् । अमुतः । च । यत् । वधम् । वरुण । यवय ।
वि । महत् । शर्म । यच्छ । वरीयः । यवय । वधम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(वरुण) हे सब में श्रेष्ठ,परमेश्वर ! (इतः च) इस दिशा से (च) और (अमुतः) उस दिशा से (यत् यत्) प्रत्येक (वधम्) शत्रु

यूनाम् । अघ पापकरणे-अच् । अघम् , पापम् । सुप आत्मनः क्यच् । पा०३। १। ८। इत्यत्र । छन्दसि परेच्छायामपि वक्तव्यम् । वार्त्तिकम् । इति अघ-क्यच् । क्याच् छन्दसि । पा० ३ । २ । १७० इति उ प्रत्ययः । अश्वाघस्यात् । पा० ७ ।४। ३७। इति आत्वम् । पापेच्छूनाम् । दुराचारिणाम् । **उत्-ईरते** । ईर गतौ । उद्गच्छति, उत्तिष्ठति । **युवम्** । युवाम् । **मित्रावरुणौ** । १ । ३ । २, ३ । मित्रश्च वरुणश्च । देवता द्वन्द्वे च । पा० ६ । ३ । २६ । इति पूर्व पदस्य आनङ् आदेशः । प्राणापानौ । **यावयतम्** । यु मिश्रणामिश्रणयोः—ण्यन्तात् लोट् । वियोजयतंम् , पृथक् कुरुतम् ।

३—**इतः**। पञ्चम्यास्तसिल् । पा० ५ । ३ । ७। इति इदम्-तसिल् । अस्मात् स्थानात् । **अमुतः** । अदस्—तसिल् पूर्ववत् । तस्माद् देशात् । **यत् यत्** । इति अव्ययद्वयम् । प्रत्येकं वधं यः कश्चिद् भवेत् इत्यर्थः । **वधम्** ।

प्रहार को (यावय) हटा दे । (महत्) [अपनी] बड़ी (शर्म) शरण को (वि)अनेक प्रकार से (यच्छ) [हमें]दान कर,और (वधम्) [शत्रुओं के] प्रहार को (वरीयः) बहुत दूर (यावय) फैंक दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो सेनापति ईश्वर पर विश्वास करके अपनी सेना को प्रयत्नपूर्वक शत्रु के प्रहार से बचाता और उन में वैरी को जीतने का उत्साह बढ़ाता है । वह शूरवीर जीत पाकर आनन्द पाता है ॥ ३ ॥

मन्त्र का पिछला आधा ऋ० १० । १५२ । ५ । का दूसरा आधा है, वहां (महत्) के स्थान में [मन्योः] शब्द है ॥

शास इत्था महाँ अस्यमित्रसाहो अस्तृतः ।
न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदा चन ॥ ४ ॥

शासः । इत्था । महान् । असि । अमित्र-सहः । अस्तृतः ।
न । यस्य । हन्यते । सखा । न । जीयते । कदा । चन ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इत्था) सत्य सत्य (महान्) बड़ा (शासः) शासनकर्ता (अमित्रसाहः) शत्रुओं को हराने हारा और (अस्तृतः) कभी न हारने हारा (असि) तू है । (यस्य) जिसका (सखा) मित्र (कदा चन) कभी भी (न) न (हन्यते) मारा जाता है और (न) न (जीयते) जीता जाता है ॥ ४ ॥

म० २ । शस्त्रप्रहारम् । वरुण । १। ३। ३ । हे वरणीय, परमेश्वर । यावय । म० २ । वियोजय । महत् । १ । १० । ४ । विपुलं विस्तीर्णम् । शर्म । सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ०४।१४५ । इति शॄ हिंसायाम्–मनिन् । स्वशरणम्, सुखम् । वि । विशेषेण । यच्छ । पाघ्राध्मास्थाम्ना० । पा० ७ । ३ । ७८ । इति दाण्—दाने–यच्छादेशः । देहि । वरीयः । १।२।२। उरुतरम् विस्तीर्णतरम्, दूरतरम् ॥

४—शासः । नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः । पा० ३ । १ । १३४ । इति शासु अनुशिष्टौ–पचाद्यच् । चितः । पा० ६ । १ । १६३ । इति अन्तोदात्तः । शासकः, नियन्ता, वरुणः । इत्था । सत्यनाम, निघ० ३ । १० । सत्यम् । महान् । १ । १० । ४ । सर्वोत्कृष्टः । महाँअसि । इत्यत्र संहितायाम् ।

भावार्थ—वह परमात्मा (वरुण) सर्व शक्तिमान् शत्रुनाशक है इस प्रकार श्रद्धा करके जो मनुष्य प्रयत्नपूर्वक, आत्मिक . शारीरिक और सामाजिक बल बढ़ाते रहते हैं वह ईश्वर के भक्त दृढ़ विश्वासी अपने शत्रुओं पर सदा जय प्राप्त करते हैं ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० १० । १५२ । १ में है ॥

सूक्तम् २१ ॥

१—४ ॥ इन्द्रो देवता । अनुष्टुप् छन्दः ८×४ अक्षराणि ॥

राजनीतिस्वस्तिस्थापनोपदेशः—राजनीति और शान्ति स्थापन का उपदेश ॥

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी ।
वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयंकरः ॥ १ ॥

स्वस्ति-दाः । विशाम् । पतिः । वृत्र-हा । वि-मृधः । वशी ।
वृषा । इन्द्रः । पुरः । एतु । नः । सोम-पाः । अभयम्-करः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(स्वस्तिदाः) मंगल का देने हारा, (विशाम्) प्रजाओं का (पतिः) पालने हारा (वृत्रहा) अन्धकार मिटाने हारा (विमृधः) शत्रुओं

दीर्घादटि समानपादे । पा० ८।३।९। इति नकारस्य रुत्वम् । आतोऽटिनित्यम् । पा० ८ । ३ । ३ । इति अकारस्य अनुनासिकः । **अमित्र-सहः** । अमेर्द्विषति चित् । उ० ४।१७४। इति अम रोगे पीडने-इत्रच् । षह अभिभवे-पचाद्यच् । चितः । पा० । ६ । १ । १६३ । इति अन्तोदात्तः । अमित्राणां शत्रूणां सोढा, अभिभविता । **अस्तृतः** । स्तृञ् हिंसायाम्—कर्मणि क्त । अहिंसितः । **न** । निषेधे । **यस्य** । वरुणस्य । **हन्यते** । सार्वधातुके यक् । पा० ३ । १ । ६७ । इति कर्मणि यक् । हिंस्यते । अभिभूयते । **सखा** । समाने ख्यः स चोदात्तः । उ० ४ । १३७ । इति समान + ख्या प्रसिद्धौ कथने च-इन् । टिलोपयलोपौ समानस्य सभावश्च । अनङ् सौ । पा० ७ । १ । ९३ । इति अनङ् । मित्रम्, सुहृद् । **जीयते** । जि जये-पूर्ववद् यक् । अभिभूयते । **कदा** । कस्मिन् काले । **चन** । अपि ॥

१—**स्वस्तिदाः** । सावसेः । उ० ४ । १८१ । इति सु+अस सत्तायाम्-

को (वशी) वश में करने हारा (वृषा) महा बलवान् (सोमपाः) अमृत रस का पीने हारा (अभयंकरः) अभय दान करने हारा (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला राजा (नः) हमारे (पुरः) आगे आगे (एतु) चले ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य उपरोक्त गुणों से युक्त राजा को अपना अगुआ बनाते हैं, वे अपने सब कामों में विजय पाते हैं।

२—वह जगदीश्वर सब राजा महाराजाओं का लोकाधिपति है उस को अपना अगुआ समझकर सब मनुष्य जितेन्द्रिय हों ॥ १ ॥

इस सूक्त में ऋग्वेद १० । १५२ । मन्त्र २—५ कुछ भेद के साथ हैं

तिप्रत्ययः । ततः । क्विप् च । पा० ३ । २ । ७६ । इति डुदाञ् दाने-क्विप् । समासस्य । पा० ६ । १ । २२३ । इति अन्तोदात्तः । क्षेमप्रदः । **विशाम्** । विश प्रवेशे-क्विप् । विशः, मनुष्याः – निघ० २ । ३ । प्रजानाम् मनुष्याणाम् । **पतिः** । १ । १ । १ । पालकः, स्वामी । **वृत्र-हा** । स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । इति वृत वर्तने-रक् । इति वृत्रः, अन्धकारः । शत्रुः । ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप् । पा० ३ । २ । ८७ । इति हन हिंसागत्योः-क्विप् । शत्रुनाशकः । अन्धकार-निवारकः । **वि-मृधः** । वि + मृध हिंसायाम्-क्विप् । विशेषेण हिंसकान् । शत्रून् । अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः । पा० २ । ३ । ७० । इति (वशी) शब्देन सह द्वितीया, यथा (मां कामिन्यसः) १ । ३४ । ५ । **वशी** । वशोऽस्त्यस्य । अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । इति वश आयत्तत्वे, स्पृहायाम्—इनि । वश-यिता । **वृषा** । १ । १२ । १ । सुखस्य वर्षयिता, महावली । **इन्द्रः** । १ । ७ । ३ । परमेश्वरः । राजा । जीवः । **पुरः** । पुरस्तात् , अग्रे । **एतु** । इण्—गतौ । गच्छतु , अग्रगामी भवतु । **सोम-पाः** । आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च । पा० ३ । २ । ७४ । सोम + पा पाने—विच् । सोमस्य अमृतरसस्य पानशीलः । **अभयम्-करः** । मेघर्त्तिभयेषु कृञः । पा० ३ । २ । ४३ । उपपदविधौ भयादि-ग्रहणं तदन्तविधिं प्रयोजयति । इति वार्त्तिकेन । अभय + कृञ्-खच् । अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् । पा० ६ । ३ । ६७ इति मुम् आगमः । अभयस्य रक्षणस्य जयस्य कर्ता ॥

वि न॑ इन्द्र मृधो॑ जहि नी॒चा य॑च्छ पृतन्य॒तः ।
अ॒ध॒मं ग॑मया॒ तमो॒ यो अ॒स्माँ अ॑भि॒दास॑ति ॥ २ ॥

वि । नः॒ । इ॒न्द्र॒ । मृधः॑ । ज॒हि॒ । नी॒चा । य॒च्छ॒ । पृ॒त॒न्य॒तः ।
अ॒ध॒मम् । ग॒म॒य॒ । तमः॑ । यः । अ॒स्मान् । अ॒भि॒-दास॑ति ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले राजन् ! (नः) हमारे (मृधः) शत्रुओंको (विजहि) मार डाल, (पृतन्यतः) और सेना चढ़ाकर लाने हारों को (नीचा) नीचे करके (यच्छ) रोक दे । (यः) जो (अस्मान्) हमको (अभिदासति) हानि पहुंचावे उसको (अधमम्) नीचे (तमः) अन्ध कार में (गमय) पहुंचा दे ॥२॥

भावार्थ—१, न्यायशील, प्रतापी राजा अन्यायी दुराचारियों को परमेश्वर के दिये हुये बल से सब प्रकार परास्त करके दृढ़ बन्धीगृह में डालदे ॥

२—महा बली परमेश्वर को हृदयस्थ समझ कर सब मनुष्य अपनी कुवृत्तियों का दमन करें ॥ २ ॥

वि रक्षो॒ वि मृधो॑ जहि॒ वि वृ॒त्रस्य॒ हनू॑ रुज ।
वि म॒न्युमि॑न्द्र वृत्रहन्न॒मित्र॑स्याभि॒दास॑तः ॥ ३ ॥

वि । रक्षः॑ । वि । मृधः॑ । ज॒हि॒ । वि । वृ॒त्रस्य॑ । हनू॒ इति॑ । रु॒ज॒ ।
वि । म॒न्युम् । इ॒न्द्र॒ । वृ॒त्र॒-ह॒न् । अ॒मित्र॑स्य । अ॒भि॒-दास॑तः ॥३॥

२—**वि** । विविधाम् । **मृधः** । म०१ । मृध हिंसायाम्—क्विप् । मर्धयितॄन्, हिंसकान्, शत्रून । **जहि** । १ । ८ । ३ । नाशय । **नीचा** । सुपांसुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । नीचैः शब्दात् सुपो डा प्रत्ययः, डित्वात् टिलोपः । नीचैः । **यच्छ** । १ । १ । ३ । नियमय, न्यग्भूतान् कुरु । **पृतन्यतः** । सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । इति पृतना—क्यच् । कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः । पा० ७ । ४ । ३९ । इति अकार लोपः । तदन्तस्य धातु संज्ञायां लटः शतृ । युद्धार्थं पृतनां सेनाम् आत्मन इच्छतः शत्रून् । **अधमम्** । अधस्+मप्रत्ययः, अन्त्यलोपः । अतिनीचं । निकृष्टम् । **गमय** । गम्लृ णिचि—लोट् द्विकर्मकः । प्रापय तं शत्रुम् । **तमः** । तमिर खेदे—असुन् । अन्धकारम् । **अस्मान्, अभिदासति** । व्याख्यातम्, १ । १९ । ३ ॥

भाषार्थ—(रक्षः=रक्षांसि) राक्षसों और (मृधः) हिंसकों को (वि वि) सर्वथा (जहि) तू मार डाल, (वृत्रस्य) शत्रु के (हनू) दोनों जावड़ों को (विरुज) तोड़ दे (वृत्रहन्) हे अन्धकार मिटाने हारे (इन्द्र) बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्! (अभिदासतः) चढ़ाई करने हारे (अमित्रस्य) पीड़ाप्रद शत्रु के (मन्युम्) कोप को (वि=विरुज) भंग करदे ॥ ३ ॥

भावार्थ—१, राजा को पुरुषार्थी होकर शत्रुओं का नाश करके और प्रजामें शान्ति फैलाकर आनन्द भोगना चाहिये ॥

२—सर्वरक्षक परमेश्वर के प्रताप से मनुष्य अपने बाहिरी और भीतरी शत्रुओं को निर्बल करें ॥ ३ ॥

अपेन्द्र द्विषतो मनोऽप जिज्यासतो वधम् ।
वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम् ॥ ४ ॥

अप । इन्द्र । द्विषतः । मनः । अप । जिज्यासतः । वधम् ।
वि । महत् । शर्म । यच्छ । वरीयः । यवय । वधम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले राजन् (द्विषतः) वैरी के (मनः) मन को (अप=अपकृत्य) तोड़कर, और (जिज्यासतः) [हमारी] आयु की हानि

३—रक्ष । रक्ष पालने-असुन् । रक्षो रक्षितव्यमस्मात्-निरु० ४ । १८ । जातावेकवचनम् । राक्षसम् । शत्रुम् । वि । विशेषण, सर्वथा । मृधः । म० २ । मर्धयितॄन्, हिंसकान् । जहि । म० २ । नाशय । वृत्रस्य । म०१ । शत्रोः । हनू । शृस्वृस्निहि० । उ० १ । १० । इति हन वधे-उ प्रत्ययः । हन्ति कठोर-द्रव्यादिकमिति हनुः । कपोलद्वयोपरिमुखभागौ । रुज । रुजो भङ्गे तुदादिः । भङ्धि । विदारय । वि-विरुज । मन्युम् । १ । १० । १ ।—क्रोधं, कोपम् । वृत्र-हन् । म० १ । हे अन्धकारनाशक ! अमित्रस्य । १ । १६ । २ । पीडकस्य, शत्रोः । अभि-दासतः । दसु उत् क्षेपे-शतृ । उपक्षपयतः, उत्-क्षेपण-शीलस्य ॥

४—अप । अपकृत्य, तिरस्कृत्य । द्विषतः । द्विष अप्रीतौ-शतृ । अप्रीति-

चाहने हारे शत्रु के (वधम्) प्रहार को (अप=अपकृत्य) छिन्नभिन्न करके (महत् शर्म) [अपना] विस्तीर्ण शरण (वियच्छ) [हमें] दानकर, और (वधम्) [शत्रु के] प्रहार को (वरीयः) बहुत दूर (यावय) फेंक दे ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के विश्वास से मनुष्य अपने पुरुषार्थ और बुद्धि बल से शत्रु को निरुत्साही करके विजयी होवें ॥ ४ ॥

टिप्पणी—पिछले आधे मन्त्र के लिये १ । २० । ३ । देखो ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥



करस्य शत्रोः । **मनः** । १। १। २ । अन्तःकरणं हृदयम् आत्मबलम् । **जिज्यासतः** । धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायाम् । वा० । पा० ३ । १ । ७ । इति ज्या वयोहानौ—सन् प्रत्ययः । सन्यङोः । पा० ६ । १ । ६ । इति द्विर्वचने हलादिः शेषे ह्रस्वे च कृते । सन्यतः । पा० ७ । ४ । ७८ । इति अभ्यासाकारस्य इत्वम् । सन्नन्तस्य धातुसंज्ञायां लटः शतृ । वयोहानिमिच्छतः, अस्मान् जेतुमिच्छतः पुरुषस्य । **वधम्** । १ । २० । १ । प्रहारम् । अन्यद् व्याख्यातम् । १ । २० । ३ ॥

अथ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् २२ ॥

१—४ ॥ सूर्यो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

रोगनाशोपदेशः—रोग नाश के लिये उपदेश ॥

अनु सूर्यमुदयतां हृद्द्योतो हरिमा च ते ।
गो रोहितस्य वर्णेन तेन त्वा परि दध्मसि ॥ १ ॥

अनु । सूर्यम् । उत् । अयताम् । हृत्-द्योतः । हरिमा । च । ते ।
गोः । रोहितस्य । वर्णेन । तेन । त्वा । परि । दध्मसि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (हृद्-द्योतः) हृदय की सन्ताप [चमक] (च) और (हरिमा) शरीर का पीलापन (सूर्यम् अनु) सूर्य के साथ साथ (उद्-अयताम्) उड़ जावे । (रोहितस्य) निकलते हुये लाल रंग वाले (गोः) सूर्य के (तेन) प्रसिद्ध (वर्णेन) रंग से (त्वा) तुझ को (परि) सब प्रकार से (दध्मसि) हम पुष्ट करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रातः और सायं काल सूर्य की किरणें तिरछी पड़ने से रक्त वर्ण दीखती हैं, और वायु शीतल, मन्द, सुगन्ध चलता है। उस समय मानसिक और शारीरिक रोगी को सद्वैद्य वायु सेवन और ओषधि सेवन करावें,

१—अनु । अनुर्लक्षणे । पा० १ । ४ । ८४ । लक्षणेऽर्थे अनोः कर्मप्रवचनीयत्वम् । कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया । पा० २ । ३ । ८ । इति सूर्य शब्दस्य द्वितीया । सन्निकृत्य । सूर्यम् । १ । ३ । ५ । लोकप्रेरकम् । आदित्यम् । उत्+

जिस से वह स्वस्थ हो जाये और रुधिर के संचार से उस का रंग रक्त सूर्य के समान लाल चमकीला हो जाये ॥ १ ॥

१—(गौः) सूर्य है वह रसों को ले जाता [और पहुंचाता] है, और अन्तरिक्ष में चलता है –निरु० २ । १४ ॥

२—मनु महाराज ने भी दो सन्ध्याओं का विधान [स्वस्थता के लिये] किया है—मनु, अ० २ श्लो० १०१ ॥

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् सावित्रीमार्कदर्शनात् ।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥ १ ॥

प्रातःकाल की सन्ध्या में गायत्री को जपता हुआ सूर्य दर्शन होने तक स्थित रहे और सायंकाल की सन्ध्या में तारों के चमकने तक बैठा हुआ ठीक ठीक जप करे ॥

परि त्वा रोहितैर्वर्णैर्दीर्घायुत्वाय दध्मसि ।
यथायमरपा असदथो अहरितो भुवत् ॥ २ ॥

परि । त्वा । रोहितैः । वर्णैः । दीर्घायु-त्वाय । दध्मसि ।
यथा । अयम् । अरपाः । असत् । अथो इति । अहरितः । भुवत् ॥ २ ॥

अयताम् । अय गतौ । अनुदात्तेत्त्वाद् आत्मनेपदम् । उद्गच्छतु, विनश्यतु, इति यावत् । **हृद्-द्योतः** । द्युत दीप्तौ—भावे घञ् । हृदयस्य सन्तापः । **हरिमा** । वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ् च । पा० ५ । १ । १२३ । इति हरित्—भावे इमनिच् । यचि भम् । पा० १ । ४ । १८ । इति भसंज्ञायाम् । टेः । पा० ६ । ४ । १४३ । इति टिलोपः । चितः । पा०६।१ । १६३ । इति अन्तोदात्तः । कामिलादि-रोगजनितः शारीरो हरिद्वर्णः । **गोः** । पुंलिङ्गम् । गमेर्डोः । उ० २ । ६७ । गम्लृ गतौ–डो । गौरादित्यो भवति गमयति रसान् गच्छत्यन्तरिक्षे–इति भगवान् यास्कः–निरु० २ । १४ । आदित्यस्य, सूर्यस्य । **रोहितस्य** । रुहेरश्च लो वा । उ० ३ । ९४ । इति रुह जन्मनि प्रादुर्भावे च–इतन् । प्रादुर्भूतस्य, उदितस्य । प्रभातकाले रक्तवर्णस्य । **वर्णेन** । वर्ण शुक्लादिवर्णकरणे दीपने च–घञ् । रागेण, रञ्जनेन । रूपेण । **दध्मसि** । दध्मः पोषयामः ॥

भाषार्थ—(रोहितैः) लाल (वर्णैः) रंगों के साथ (त्वा) तुझको (दीर्घायुत्वाय) चिर काल जीवन के लिये (परि) सब प्रकार से (दध्मसि) हम पुष्ट करते हैं। (यथा) जिस से (अयम्) यह (अरपाः) नीरोग (असत्) हो जाये, (अथो) और (अहरितः) पीले वर्ण रहित (भुवत्) रहे ॥ २ ॥

भावार्थ—सद्वैद्य और कुटुम्बी लोग रोगी को प्रातः सायम् वायु सेवन और औपधि सेवन कराकर स्वस्थ करें कि रुधिर संचार से उस का शरीर रक्त वर्ण हो जाय और ज्वर, पीलिया आदि रोग का पीलापन शरीर से जाता रहे ॥ २ ॥

या रोहि॑णीर्देव॒त्या॒३ गावो॒ या उ॒त रोहि॑णीः ।
रू॒पंरू॑पं॒ वयो॑वयस्ता॒भिष्ट्वा॒ परि॑ दध्मसि ॥ ३ ॥

याः । रोहि॑णीः । दे॒व॒त्याः॑ । गाव॑ः । याः । उ॒त । रोहि॑णीः ।
रू॒पम्-रू॑पम् । वय॑ः-वयः । ताभि॑ः । त्वा॒ । परि॑ । द॒ध्म॒सि॒ ॥३॥

भाषार्थ—(याः) जो (देवत्याः) दिव्य गुण युक्त (रोहिणीः) स्वास्थ्य उत्पन्न करने वाली ओपधें (उत) और (याः) जो (रोहिणीः) लाल वर्ण वाली (गावः) दिशायें हैं। (ताभिः) उन सब के साथ (त्वा) तुझको (रूपम्

२—त्वा । त्वां रोगिणं। **रोहितैः** । म० १ । लोहितैः, रक्तैः **वर्णैः** । म० १ । रङ्गैः । रञ्जनैः । **दीर्घायुत्वाय** । दीर्घ-आयुत्वाय । छन्दसीणः । उ० १।२। इण् गतौ-उण् । भावे त्व प्रत्ययः । चिरकालजीवनाय । **परिदध्मसि** । म० १ । सर्वतः पोपयामः । **अरपाः** । सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८९ । इति-रप लप कथने-असुन् । रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः—निरु० ४ । २१ । अपापः, नीरुजः, नीरोगः । **असत्** । अस सत्तायाम्-लेट् । भवेत् । **अथो** । अथ—उ । तदनन्तरम् एव । **अहरितः** । हृश्याभ्यामितन् । उ० ३ । ९३ । इति न + हृञ् हरणे—इतन् । पीतवर्णरहितः । **भुवत्** । भू सत्तायाम्-लेट् । भवेत् ॥

३—**रोहिणीः** । रुहेश्च । उ० २ । ५५ । इति रुह उद्भवे-इनन् । षिद्गौरादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ४१ । इति गौरादित्वात् ङीष् । वा छन्दसि । पा०

रूपम्) सब प्रकार की सुन्दरता और (वयः वयः) सब प्रकार के बल के लिये (परि दध्मसि) हम सर्वथा पुष्ट करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जब सूर्य की किरणों से दिशायें रक्त वर्ण दिखायी देती हैं तब प्रातः सायं दोनों समय सद्वैद्य रोगी को सुपरीक्षित औषधों और यथायोग्य वायु सेवन से स्वस्थ करके सब प्रकार से हृष्ट पुष्ट और बलवान् करें ॥३॥

सुकेषु ते हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि ।
अथो हारिद्रवेषु ते हरिमाणं नि दध्मसि ॥ ४ ॥

सुकेषु । ते । हरिमाणम् । रोपणाकासु । दध्मसि ।
अथो इति । हारिद्रवेषु । ते । हरिमाणम् । नि । दध्मसि ॥४॥

भाषार्थ— (सुकेषु) उत्तम उत्तम उपदेशों में और (रोपणाकासु) लेप आदि क्रियाओं में (ते) तेरे (हरिमाणम्) सुख हरने वाले शरीर रोग को (दध्मसि) हम रखते हैं । (अथो) और भी (हारिद्रवेषु) रुचिर रसों में (ते) तेरे (हरिमाणम्) चित्त विकार को (नि) निरन्तर (दध्मसि) हम रखते हैं ॥ ४ ॥

---

६ । १ । १०६ । इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । रोहयन्ति जनयन्ति स्वास्थ्यं ता रोहिण्यः, ओषधयः । **देवत्याः** । भवे छन्दसि । पा० ४ । ४ । ११० । इति देवता-यत् । दिव्यगुणयुक्ताः । **गावः** । स्त्रीलिङ्गम् । दिशाः । **रोहिणीः** । वर्णादनुदात्तात् तो नः । पा० ४ । १ । ३६ । इति रोहित-ङीप्, तकारस्य नकारः। जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । रोहिण्यः, लोहितवर्णाः प्रातः सायंकालभवाः । **रूपं-रूपम्** । नित्यवीप्सयोः । पा० ८ । १ । ४ । इति द्विर्वचनम् । सर्वसौन्दर्येण । सर्वसौन्दर्याय । **वयः-वयः** । वय गतौ-असुन् । वीप्सयां द्विर्वचनम् । कृत्स्नेन यौवनेन, सर्वेण सामर्थ्येन । सर्वसामर्थ्याय । **ताभिः** । गोभिश्च रोहिणीभिश्च ॥

४—**सुकेषु** । अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ । इति सु० + कै + शब्दे, यद्वा, कच दीप्तौ—ड । उत्तमेषु शब्देषु । उपाय कथनेषु । **हरिमाणम्** । म० १ ।

भावार्थ—सद्वैद्य बाहिरी शारीरिक रोगों को यथायोग्य ओषधि और लेप आदि से, और भीतरी मानसिक रोगों को उत्तम उत्तम ओषधि रसों से नाश करके रोगी को स्वस्थ करें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र ऋ० १ । ५० । १२ । में कुछ भेद से है, वहां (सुकेषु) के स्थान में [शुकेषु] है । और सायण भाष्य में भी [शुकेषु] माना है। परन्तु तीनों अथर्व-संहिताओं में (सुकेषु) पाठ है वही हम ने लिया है। सायणाचार्यने [शुक] का अर्थ तोता पक्षी और (रोपणाका)का [काष्ठशुक] नाम हरिद्वर्ण पक्षी अथर्ववेद में और [शारिका पक्षी विशेष] अर्थात् मैना ऋग्वेद में, और (हारिद्रव) का अर्थ [गोपीतनक नाम हरिद्वर्ण] [पक्षी] अथर्ववेद में,और [हरिताल का वृक्ष] ऋग्वेद में किया है इस अर्थ का यह आशय जान पड़ता है कि रोग विशेषों में पक्षी विशेषों को रोगी के पास रखने से भी रोग की निवृत्ति होती है ॥

सूक्तम् २३ ॥

१—४ ॥ ओषधिर्देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

महारोगनाशोपदेशः–महारोग के नाश के लिये उपदेश ॥

नक्तंजातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च ।
इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत् ॥ १ ॥

रोग जनितं हरिद्वर्णम् , सुखहरणशीलं रोगं शारीरिकं हार्दिकं वा । **रोपणाकासु** । रोपणं—आकासु । रुह प्रादुर्भावे , णिच्—ल्युट् , हस्य पः । व्रणरोगे मांसाङ्कुरजननार्थक्रियादिकं इति रोपणम्, ततः, आ + कम कान्तौ—ड ॥ "रोपणं समन्तात् कामयन्ति तासु क्रियासु लिप्तास्वोषधिषु "–इति श्रीमद् दयानन्द-भाष्यम् ऋ० १ । ५० । १२ । **दध्मसि** । म० । १ । वयं धारयामः,स्थापयामः । **हारिद्रवेषु** । वसिवपियजि० । उ० ४ । १२५ । इति हृञ् हरणे—इञ् । हरति रोगमिति हारिः, रुचिरः , मनोहरः । ऋदोरप् । पा० ३ । ३ । ५७ । इति द्रु द्रवणे स्रवणे-अप् । इति , द्रवः , रसः । रुचिररसेषु । **नि** । नियमेन ॥

नक्तम्-जाता । असि । ओषधे । रामे । कृष्णे । असिक्नि । च । इदम् । रजनि । रजय । किलासम् । पलितम् । च । यत् ॥१॥

भाषार्थ—(ओषधे) हे उष्णता रखने हारी, ओषधि तू (नक्तंजाता) रात्रिमें उत्पन्न हुई (असि) है, जो तू (रामे) रमण कराने हारी (कृष्णे) चित्त को खींचने हारी, (च) और (असिक्नि) निर्बन्ध [पूर्ण सार वाली] है। (रजनि) हे उत्तम रंग करने हारी ! तू (इदम्) यह (यत्) जो (किलासम्) रूप का बिगाड़ने हारा कुष्ठ आदि (च) और (पलितम्) शरीर का श्वेतपन रोग है [उसको] (रजय) रंगदे ॥ १ ॥

भावार्थ—सद्वैद्य उत्तम परीक्षित औषधों से रोगों की निवृत्तिकरें ॥१॥

१—रात में उत्पन्न हुई ओषधि से यह आशय है कि ओषधें, गेहूं, जौ, चावल आदि अन्न, और कमल आदि रोगनिवर्तक पदार्थ, चन्द्रमा की किरणों से पुष्ट होकर उत्पन्नहोते हैं ॥

१—नक्तम्-जाता । नज व्रीडि-क्त । नजते लज्जां प्राप्नोति अस्याम् । यद्वा । नक नाशने-क्त । नकयति नाशयति प्रकाशम् इति नक्तं रात्रिः । जनी प्रादुर्भावे-क्त । रात्रौ जाता उत्पन्ना । अज्ञातजन्मा । ओषधे । ओषो पाको धीयतेऽस्याम्, ओष + डुधाञ् धारणपोषणयोः-कर्मण्यधिकरणे च । पा०३ । ३ । ९३ । इति कि प्रत्ययः । ओषधय ओषद् धयन्तीति वा दोषं धयन्तीति वा-निरु० ९ । २७ । अस्यार्थः—ओषत् शरीरे दहद् रोगजातं धयन्ति पिबन्ति नाशयन्ति । ओषति दाहके ज्वरादौ एना धयन्ति पिबन्ति रोगिणो दाहोपशमनाय । पक्षद्वये. ओषत् + धेट् पाने-कि । अथवा दोषं वातपित्तादिकं धयन्तीति वा । दोष + धेट्-कि । पृषोदरादित्वाद् दलोपः । हे रोगनाशकद्रव्य! । रामे । रमु क्रीडायाम् णिच् वा-घञ् । टाप् । रमते रमयति वेति रामा, हे रमणशीले, रमणकारिणि, सुखप्रदे । कृष्णे । कृषेर्वर्णे । उ० ३ । ४ । इति बाहुलकात् वर्णं विनापि । कृष आकर्षणे—नक् । टाप् । कर्षति आनन्दयति चित्तानि स्वमनोहरगुणेन । यद्वा, कर्षति वशीकरोति रोगान् सा कृष्णा । हे आकर्षणशीले । असिक्नि । अञ्चिघृसिभ्यः क्तः । उ० ३ । ८९ । इति षिञ् बन्धने-क्त । अथवा । षो अन्तकर्मणि-क्त नञ्समासः । छन्दसि क्नमित्येके । वार्तिकम्, पा० ४ । १ । ३९ । इति असित-

२—इसी प्रकार मनुष्यों को गर्भाधान क्रिया रात्रि में करनी चाहिये ॥

३—ओषधि आदि मूर्त्तिमान पदार्थ पांच तत्त्वों से बने हैं तौ भी उनके भिन्न२ आकार और भिन्न २ गुण हैं, यह मूल संयोग वियोग क्रिया ईश्वर के अधीन है, वस्तुतः मनुष्य के लिये यह कर्म रात्रि अर्थात् अंधकार वा अज्ञान में है ॥

४—प्रलय रूपी रात्रि के पीछे, पहिले अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं फिर मनुष्य आदि की सृष्टि होती है ॥ १ ॥

क्रिलासं च पलितं च निरितो नाशया पृषत् ।
आ त्वा स्वो विशतां वर्णः परा शुक्लानि पातय ॥२॥

क्रिलासम् । च । पुलितम् । च । निः । इतः । नाशय । पृषत् ।
आ । त्वा । स्वः । विशताम् । वर्णः । परा । शुक्लानि । पातय ॥२॥

भावार्थ—[हे ओषधि !] (इतः) इस पुरुष से (किलासम्) रूप विगाड़ने वाले कुष्ठ आदि रोग को (च) और (पलितम्) शरीर के श्वेतपन (च) और (पृषत्) विकृत् चिन्ह को (निर्णाशय) निरन्तर नाश करदे। (स्वःवर्णः) [रोग

ङीप्, तकारस्य क्नः। असिता असिक्नी। हे अवद्धशक्ते, अखंडवीर्ये, पूर्णसार-युक्ते। रजनि। रञ्जेः क्युन्। उ० २। ७९। इति रञ्ज रागे-क्युन्, स्त्रियां ङीप्। रञ्जयतीति रजनी। हे सुरञ्जनशीले। रजय। रञ्ज रागे, नकारलोपः रञ्जय, स्वाभाविकरागयुक्तं कुरु। किलासम्। क्लीवलिंगम्। किल प्रेरणे, क्रीड़े—क। कर्मण्यण्। पा० ३। २। १। किल+असु क्षेपणे—अण्। किलं वर्णं अस्यति क्षिपति विकृतं करोतीति तत् किलासम्। वर्णदूषकम् सिध्मम्। कुष्ठ-रोगादिकं। पलितम्। फलेरितजादेश्च पः। उ० ५। ३४। इति फल भेदने निष्पत्तौ च—इतच्, फस्य पत्वम्। फलति निष्पन्नं पक्वमिव भवतीति पलितम्। अथवा पल गतौ रक्षणे च—इतच्। शरीरश्वेततारोगः। यत्। यत् किञ्चित् ॥

२—किलासम्। म० १। वर्णविकारकरं कुष्ठादिरोगम्। पलितम्। म० १। शरीरश्वेततारोगम्। निर्। निरन्तरम्। इतः। अस्मात् पुरुषात्।

का] अपना रंग (त्वाम्) तुझ में [ओषधि में] (आविशताम्) प्रविष्ट हो जाय और (शुक्लानि) [उसके] श्वेत चिन्हों को (परा पातय) दूर गिरा दे ॥ २ ॥

भावार्थ—सद्वैद्य की उत्तम ओषधि से रोगी के शरीर का बिगड़ा हुआ रूप फिर यथापूर्व सुन्दर रुचिर और मनोहर हो जाता है ॥ २ ॥

असितं ते प्रलयनमास्थानमसितं तव ॥
असिक्न्यस्योषधे निरितो नाशया पृषत् ॥ ३ ॥

असितम् । ते । प्र-लयनम् । आ-स्थानम् । असितम् । तव ।
असिक्नी । असि । ओषधे । निः । इतः । नाशय । पृषत् ॥३॥

भाषार्थ—(ओषधे) हे ओषधि ! (ते) तेरा (प्रलयनम्) लाभ (असितम्) निर्बन्ध वा अखंड है, और (तव) तेरा (आस्थानम्) विश्राम स्थान (असितम्) निर्बन्ध है, (असिक्नी असि) और तू निर्बन्ध [सारवाली] है, (इतः) इस पुरुष से (पृषत्) [विकृत] चिन्ह को (निर्णाशय) सर्वथा नाश कर दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—सद्वैद्य विचार करे कि यह ओषधि पूर्ण लाभयुक्त है यथायोग्य

नाशय । णश अदर्शने—णिच् । विनष्टं कुरु, नाशय । **पृषत्** । वर्तमाने पृषद्बृहन्महत्० । उ० २ । ८४ । पृष सेके हिंसने च—अति । विकृतचिन्हम् । **त्वा** । त्वाम् । ओषधिम् । **स्वः** । स्वन शब्दे—ड । स्वकीयः, आत्मीयः । **आ+विशताम्** । प्रविशतां, व्याप्नोतु । **वर्णः** । १ । २२ । १ । रूपम् । **शुक्लानि** । ऋज्रेन्द्राग्रवज्र० । उ० २ । २८ । इति शुच शौचे—रन् । रस्य लः । श्वेतानि श्येतानि सितानि चिन्हानि । **परा+पातय** । पत, णिच् । दूरं प्रेरय ॥

३—**असितम्** । अञ्चिघृसिभ्यः क्तः । उ० ३ । ८९ । इति षिञ् बन्धने-क्त । अथवा । षो अन्तकर्मणि=नाशने-क्त । नञ्समासः । अबद्धम्, अखण्डितम् । कृष्णवर्णम्-इति सायणः । **प्र-लयनम्** । प्र+लीङ् श्लेषे, प्राप्तौ-ल्युट् । प्रापणं, प्राप्तिः,लाभः । **आ-स्थानम्** । आङ्+ष्ठा गतिनिवृत्तौ-ल्युट् । विश्राम-

स्थान में उत्पन्न हुई है और सब अंशों में सारयुक्त है, ऐसी ओषधि के प्रयोग से रोग निवृत्ति होती है ॥ ३ ॥

अस्थिजस्य किलासस्य तनूजस्य च यत् त्वचि ।
दूष्या कृतस्य ब्रह्मणा लक्ष्म श्वेतमनीनशम् ॥ ४ ॥

अस्थि-जस्य । किलासस्य । तनू-जस्य । च । यत् । त्वचि ।
दूष्या । कृतस्य । ब्रह्मणा । लक्ष्म । श्वेतम् । अनीनशम् ॥४॥

भाषार्थ—(दूष्याकृतस्य अस्थिजस्य तनूजस्य च किलासस्य यत् श्वेतम् लक्ष्म त्वचि अस्ति तत् ब्रह्मणा अहम् अनीनशम्—इत्यन्वयः)। (दूष्या) दुष्ट क्रिया से (कृतस्य) उत्पन्न हुये, (अस्थिजस्य) हड्डी से उत्पन्न हुये (च) और (तनूजस्य) शरीर से निकले हुये (किलासस्य) रूप बिगाड़ने हारे, कुष्ट आदि रोग का (यत्) जो (श्वेतम्) श्वेत (लक्ष्म) चिन्ह (त्वचि) त्वचा पर है [उसको] (ब्रह्मणा) वेद विज्ञान से (अनीनशम्) मैंने नाश कर दिया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—भारी रोग दो प्रकार के होते हैं एक (अस्थिज) हड्डी से उत्पन्न होने वाले अर्थात् भीतरी रोग जो ब्रह्मचर्य के खंडन और कुपथ्य भोजन आदि के कारण मज्जा और वीर्य के विकार से हो जाते हैं, और दूसरे (तनुज)

स्थानम् । तव । त्वदीयम् । असिक्नी । म० १ । अबद्धा, सारवती । ओषधे । म० १ । हे रोगनाशकद्रव्य ! । अन्यत् सुगमं व्याख्यातंच ।

४-अस्थि-जस्य । असिसञ्जिभ्यां क्थिन् । उ० ३ । १५४ । इति असु क्षेपणे-क्थिन् । अस्यते क्षिप्यते शरीरे तत् अस्थि, शरीरस्थ सप्तधातुमध्ये धातुविशेष ; कीकसम् । ततः । पञ्चम्यामजातौ । पा०.३ । २ । ९८ । इति जनी प्रादुर्भावे- ड प्रत्ययः । अस्थ्नो जातस्य मज्जाधातोः । किलासस्य । म० १ । वर्णनाशकस्य कुष्ठरोगादिकस्य । तनू-जस्य । तन्वाः शरीरात् जायते, पूर्ववत् तनू+जनी- ड । शरीरजातस्य । यत् । लक्ष्म । त्वचि । तनोरनश्च वः । उ० २ । ६३ । इति तनु विस्तारे-चिक प्रत्ययः, अन भागस्य वकारश्च । तन्यते विस्ती-

शरीर से उत्पन्न हुये बाहिरी रोग जो मलिन वायु, मलिन घर, आदि के कारण होते हैं, इस प्रकार (ब्रह्मणा) वेदिक ज्ञान से रोगों का निदान करके उत्तम परीक्षित ओषधियों से रोगियों को स्वस्थ करे ॥ ४ ॥

इस सूक्त का आशय यह है कि जिस प्रकार सद्वैद्य रोगों का आदि कारण जानकर ओषधि करके रोग निवृत्ति करता है, उसी प्रकार नीतिज्ञ राजा नियम पूर्वक दुष्टों का दमन करता है, सेनापति शत्रु के प्रहार से अपनी सेना की रक्षा करके जीत पाता है, और ब्रह्मज्ञानी और वैज्ञानिक लोग बाह्य और आभ्यान्तर विघ्नों को हटाकर अपना कार्य सिद्ध करते हैं ॥

सूक्तम् २४ ।

१—४ ॥ ओषधिर्देवता ॥ १, ३, ४, अनुष्टुप् , २ पंक्तिः, ८×५ अक्षराणि ॥

महारोगनाशोपदेशः—महारोग के नाश के लिये उपदेश ॥

सुपर्णो जातः प्रथमस्तस्य त्वं पित्तमासिथ ।
तदासुरी युधा जिता रूपं चक्रे वनस्पतीन् ॥१॥

सु-पर्णः । जातः । प्रथमः । तस्य । त्वम् । पित्तम् । आसिथ ।
तत् । आसुरी । युधा । जिता । रूपम् । चक्रे । वनस्पतीन् ॥ १ ॥

यंते सा त्वक् । यद्वा । त्वच् संवरणे-क्विप् । त्वचति संवृणोति मेदः शोणितादिकम् सा । शरीरावरणे, चर्मणि । **दूष्या** । सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति दुष वैरे, दुष्टकर्मणि-इन् । दूषयति प्राणिनं हिनस्तीति दूषिः, तया दुष्टक्रियया ब्रह्मचर्यखंडनमद्यादिकुपथ्यसेवनरूपया । **कृतस्य** । उत्पादितस्य । **ब्रह्मणा** । १ । ८ । ४ । वेदविज्ञानेन । **लक्ष्म** । सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति लक्ष दर्शने-मनिन् । चिह्नम् । **श्वेतम्** । श्वित शुक्लतायाम्-अच् घञ् वा । शुक्लवर्णयुक्तम् । **अनीनशम्** । णश अदर्शने-णिचि लुङि रूपम् । अहं नाशितवानस्मि ॥

भाषार्थ—(सुपर्णः) उत्तम रीति से पालन करने हारा, वा अति पूर्ण परमेश्वर (प्रथमः) सब का आदि (जातः) प्रसिद्ध है। (तस्य) उस [परमेश्वर] के (पित्तम्) पित्त [बल] को, [हे औषधि !] (त्वम्) तूने (आसिथ) पाया था। (तत्) तब (युधा) संग्राम से (जिता) जीती हुयी (आसुरी) असुर [प्रकाशमय परमेश्वर] की माया [प्रज्ञा वा बुद्धि] ने (वनस्पतीन्) सेवा करने वालों के रक्षा करने हारे वृक्षों को (रूपम्)रूप (चक्रे)किया था ॥१॥

भावार्थ—सृष्टि से पहिले वर्त्तमान परमेश्वर की नित्य शक्ति से ओषधि अन्न आदि में पोषण सामर्थ्य रहता है। वह (आसुरी) परमेश्वर की शक्ति (युधा जिता) युद्ध अर्थात् प्रलय के अन्धकार के उपरांत प्रकाशित होती है, जैसे अन्न, और घास पात आदि का बीज शीत और ग्रीष्म ऋतुओं में भूमि के भीतर पड़ा रहता और वृष्टि का जल पाकर हरा होजाता है ॥ १ ॥

१—सु-पर्णः। धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः। उ० ३। ६। इति सु+पॄ पालनपूरणयोः—न। शोभनपालनः, शोभनपूरणः परमेश्वरः। जातः। प्रादुर्भूतः। प्रसिद्धः। प्रथमः। १। १२। १। आद्यः, अग्रिमः, उत्तमः। पित्तम्। अपि+देङ् पालने, दो छेदने वा—क। अच उपसर्गात् तः। पा० ७। ४। ४७। इति तादेशः, अपेरल्लोपः। अपि अवश्यं दयते पालयति सुगुणान्, अथवा द्यति नाशयति दुर्गुणान् तत् पित्तम्। वीर्यम् अथवा शरीरस्थधातुविशेषः। तत्पर्यायः तेजः, उष्मा, अग्निः। तस्य कर्माणि। "पाचकं पचते भुक्तं शेषाग्निबलवर्धनम्। रसमूत्रपुरीषाणि विरेचयति नित्यशः" ॥ १ ॥ इति शब्दकल्पद्रुमे। आसिथ। अस दीप्तिग्रहणगतिषु—लिट्। त्वं गृहीतवती प्राप्तवती। तत्। तदा। आसुरी। १। १०। १। असुरस्य इयम्। मायायामण्। पा० ४। ४। १२४। इति असुर—अण्। टिड्ढाणञ्द्वयस०। पा० ४। १। १५। इति ङीप्। माया=प्रज्ञा—निघ० ३। ९। असुरस्य दीप्यमानस्य परमेश्वरस्य माया प्रज्ञा। युधा। युध संप्रहारे—क्विप्। युद्धेन संग्रामेण विघ्ननिवारणेन। जिता। प्राप्तपराजया। वशीकृता रूपम्। १। १। १। आकारम्। सौन्दर्य्यम्। चक्रे।

टिप्पणी--(असुर) शब्द के लिये १ । १० । १ और (आसुरी) के लिये ७ । ३८ । १ । देखो । हे ओषधि ! तू रात्रि में उत्पन्न हुई है । ऐसा, १ । २३ । १ में आया है । ऋग्वेद १० । १२९ । ३,में कहा है ।

तम॑ आसीत् तम॑सा गूढमग्रे॑ऽप्रके॒तं स॑लि॒लं सर्व॑मा इ॒दम्।

पहिले [प्रलय काल में] अन्धकार था , और यह सब अन्धकार से ढका हुआ चिन्हरहित समुद्र था ।

आ॒सु॒री च॑क्रे प्रथ॒मेदं कि॑लासभेष॒जमि॒दं कि॑लास॒नाश॑-
नम् । अनी॑नशत् कि॒लासं॒ सरू॑पामकरत् त्वच॑म् ॥२॥

आ॒सु॒री । च॒क्रे॒ । प्र॒थ॒मा । इ॒दम् । कि॒ला॒स॒-भे॒ष॒जम् । इ॒दम् । कि॒ला॒स॒-नाश॑नम् । अनी॑नशत् । कि॒लास॑म् । स-रू॑पाम् । अ॒क॒र॒त् । त्वच॑म् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(प्रथमा) प्रथम प्रकट हुई (आसुरी) प्रकाशमय परमेश्वर की माया [बुद्धि वा ज्ञान] ने (इदम्) इस [वस्तु] को (किलासभेषजम्) रूपनाशक महा रोग की ओषधि और (इदम्) इस [वस्तु]को ही (किलासनाशनम्) रूप बिगाड़ने वाले महारोग की नाश करने हारी (चक्रे) बनाया । [उसने] [ईश्वर मायाने] (किलासम्) रूप बिगाड़ने वाले महारोग को (अनीनशत्) नाश किया और (त्वचम्) त्वचा को (सरूपाम्) सुन्दर रूप वाली (अकरत्) बनादिया ॥ २ ॥

डुकृञ् करणे—लिट् । कृतवती , दत्तवती । **वनस्पतीन्** । १ । ११ । ३ । वनानां सेवकानां पालकान् । वृक्षान् सृष्टिपदार्थान् , इत्यर्थः ॥ १ ॥

२—**आसुरी** । म० १ । प्रकाशमयपरमेश्वरस्य माया प्रज्ञा । **चक्रे** । म० १ । कृतवती । **प्रथमा** । म० १ । आदिभूता । **इदम्** । प्रसिद्धम । उपस्थितम् । **किलास-भेषजम्** । किलासम् १।२३।१ । किल + असु क्षेपणे-अण् । भिषजो वैद्यस्येदमिति अण् निपातनात् एत्वम् यद्वा, भेषं भयं रोगं जयतीति जि-ड-। रूपनाशकस्य महारोगस्य औषधम् । **किलास-नाशनम्** । कृत्य-

भावार्थ—(आसुरी) प्रकाश स्वरूप परमेश्वर की शक्ति से प्रलय के पश्चात् अनेक विघ्नों के हटाने पर मनुष्य के सुखदायक पदार्थ उत्पन्न हुये जिस से पृथिवी पर समृद्धि और क्षुधा आदि रोगों की निवृत्ति हुई ॥

सरूपा नाम ते माता सरूपो नाम ते पिता ।
सरूपकृत् त्वमोषधे सा सरूपमिदं कृधि ॥ ३ ॥

स-रूपा । नाम । ते । माता । स-रूपः । नाम । ते । पिता ।
सरूप-कृत् । त्वम् । ओषधे । सा । स-रूपम् । इदम् । कृधि ॥ ३ ॥

भावार्थ—(ओषधे) हे उष्णता रखने हारे अन्न आदि ओषधि (सरूपा) समान गुण वा स्वभाव वाली (नाम) नाम (ते) तेरी (माता) माता है, (सरूपः) समान गुण वा स्वभाव वाला (नाम) नाम (ते) तेरा (पिता) पिता है। (त्वम्) तू (सरूपकृत्) सुन्दर वा समान गुण करने हारी है, (सा=सा त्वम्) सो तू (इदम्) इस [अंग] को (सरूपम्) सुन्दर रूप युक्त (कृधि) कर ॥३॥

ल्युटो बहुलम्। पा० ३ । ३ । ११३ । इति किलास + णश अदर्शने—कर्तरि ल्युट्। किलासस्य रूपनाशकस्य महारोगस्य कुष्ठादिकस्य निवर्तकम्। अनीनशत् । णश अदर्शने—णिच्, लुङ्। नाशयति स्म। किलासम् । १ । २३ । १ । वर्ण-नाशकं महारोगम्। स-रूपाम् । ज्योतिर्जनपद० । पा० ६ । ३ । ८५ । इति समानस्य सभावः। समानरूपाम्। साधुरूपाम्। अकरत् । डुकृञ् करणे लुङ्। कृतवती। त्वचम् । १ । २३ । ४ । त्वचाम्, शरीरावरणं चर्म ॥

३—स-रूपा । म० २ । समानं रूपं स्वभावो गुणो यस्याः सा । समान-स्वभावाम्। नाम । अव्ययम्। नामन्सीमन्व्योमन्०। उ० ४ । १५१ । इति म्ना अभ्यासे—मनिन्। निपातनात् साधुः । म्नायते अभ्यस्यते यत्। प्रसिद्धा। प्रसिद्धम्। माता । १।२ । १ । माननीया जननी भूमिः प्रकृतिर्वा। स-रूपः । समानरूपः। समानस्वभावः,समानगुणः। पिता । १।२।१। पालको जनकः। परमेश्वरः मेघः सूर्यो वा। सरूप-कृत् । डुकृञ् करणे—क्विप् । ह्रस्वस्य

भावार्थ—(ओषधि) क्षुधा रोगादि निवर्तक वस्तु को कहते हैं जिस से शरीर में उष्णता रहती है, उसकी (माता) प्रकृति वा पृथिवी और (पिता) परमेश्वर वा मेघ वा सूर्य्य है जिनके गुण वा स्वभाव सब प्राणियों के लिये समान हैं। ईश्वर से प्रेरित प्रकृति से अथवा भूमि और मेघ वा सूर्य्य के संयोग से सब पुष्टि दायक और रोग नाशक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। विद्वान् लोग पदार्थों के गुणों को यथार्थ जान कर नियमपूर्वक उचित भोजन आदि के सेवन और यथोचित उपकार लेने से अपने को और अपने सन्तानों को रूपवान् और वीर्य्यवान् बनावें ॥ ३ ॥

श्यामा संरूपं॒कर॑णी पृथि॒व्या अध्युद्भृ॑ता ।
इ॒दमू॒ षु प्र सा॑धय॒ पुन॑ रू॒पाणि॑ कल्पय ॥ ४ ॥

श्या॒मा । स॒रूप॒म्–कर॑णी । पृ॒थि॒व्याः । अधि॑ । उत्–भृ॑ता । इ॒दम् । ऊं॒ इति॑ । सु । प्र । सा॒ध॒य॒ । पुन॑: । रू॒पाणि॑ । क॒ल्प॒य॒ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(श्यामा) व्यापनशीला वा सुखप्रदा, (सरूपंकरणी) सुन्दरता करने हारी तू (पृथिव्याः अधि) विख्यात वा विस्तीर्ण पृथिवी में से (उद्भृता) उखाड़ी गई है। (इदम् उ) इस [कर्म्म] को (सु) भली भांति से (प्रसाधय) सिद्ध कर, (पुनः) और (रूपाणि) [इस पुरुष] की सुन्दरताओं को (कल्पय) पूर्ण कर ॥ ४ ॥

पिति कृति तुक्। पा० ६।१।७१। इति तुक् आगमः। शोभनरूपकारिणी। समानगुणकारिणी। **त्वम् ओषधे**। १।२३।१। हे रोगनाशकद्रव्य त्वम्। **स-रूपम्**। सुन्दररूपयुक्तम्। **इदम्**। रोगदूषितम् अङ्गम्। **कृधि**। श्रुशृणुपॄकृवृभ्यश्छन्दसि। पा० ६।४।१०२। इति हेर्धिरादेशः। कुरु॥

४—**श्यामा**। इषियुधीन्धिदसिश्याधूसूभ्यो मक्। उ० १।१४५। इति श्यैङ् गतौ–मक्, टाप्। श्यायति गच्छति सुखं प्राप्नोति सा श्यामा व्यापनशीला। सुखप्रदा। ओषधिः। **सरूपम्-करणी**। सरूपं क्रियते अनयेति। करणाधिकरणयोश्च। पा० ३।३।११७। इति कृञः-करणे ल्युट्। पूर्वपदे सुपो लुगभावश्छान्दसः। टिड्ढाणञ्द्वयसज०। पा० ४।१।१५। इति ङीप्। सुन्दररूप-

भावार्थ—जैसे उत्तम वैद्य उत्तम औषधों से रोग को निवृत कर रोगी को सर्वाङ्ग पुष्ट करके आनन्दयुक्त करते हैं, इसी प्रकार दूरदर्शी पुरुष सब विघ्नों को हटा कर कार्य्य सिद्धि कर आनन्द भोगते हैं ॥ ४ ॥

मुद्राराक्षस में कहा है—

"धरि लात विघ्न अनेक पैं निरभय न उद्यम तैं टरैं ।
जे पुरुष उत्तम अन्त में ते सिद्ध सब कारज करैं ॥"

सूक्तम् २५ ॥

१—४ । अग्निर्देवता । त्रिष्टुप् छन्दः, ११×३ अक्षराणि ॥

ज्वरादिरोगशान्त्युपदेशः—ज्वर आदि रोग की शान्ति के लिये उपदेश ॥

यद॒ग्निरापो॒ अद॑हत् प्र॒विश्य॒ यत्राकृ॑ण्वन् धर्म्म॒धृतो॒ नमां॑सि । तत्र॑ त आहुः पर॒मं ज॒नित्रं॒ स नः॑ संवि॒द्वान् परि॑ वृङ्ग्धि तक्मन् ॥ १ ॥

यत् । अ॒ग्निः । आ । अपः॑ । अद॑हत् । प्र-विश्य॑ । यत्र॑ । अकृ॑ण्वन् । धर्म॒-धृतः॑ । नमां॑सि । तत्र॑ । ते॒ । आ॒हुः॒ । पर॒मम् । ज॒नित्र॑म् । सः । नः॒ सम्-वि॒द्वान् । परि॑ । वृ॒ङ्ग्धि॒ । त॒क्म॒न् ॥ १ ॥

कर्त्री । **पृथिव्याः** । १ । २ । १ । प्रख्यातायाः विस्तीर्णाया वा भूमेः सकाशात् । **अधि** । पंचम्यर्थानुवादी । **उत्-भृता** । उत्+भृञ्-क्त । उत्खाता । उत्पादिता । **ऊं इति** । पादपूरणः । पदपूरणास्ते मिताक्षरेष्वनर्थकाः, कमीमिद्विति । निरु० १ । ६ । **प्र+साधय** । प्र+षाध सिद्धौ, णिच् । सिद्धं कुरु, प्रवर्धय । **पुनः** । अनन्तरम् । **पुना रूपाणि** । रोरि । पा० ८ । ३ । १४ । इति रेफस्य लोपे कृते । ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः । पा० ६ । ३ । १११ । इति पूर्वदीर्घः । **रूपाणि** । सौन्दर्याणि, स्वास्थ्यलक्षणानि । **कल्पय** । कृपू सामर्थ्ये, णिच् कृपो रो लः । पा० ८ । २ । १८ । इति लत्वम् । संपादय, पूरय ॥

भाषार्थ—(यत्) जिस सामर्थ्य से (अग्निः) व्यापक अग्नि [ताप] ने (प्रविश्य) प्रवेश करके(अपः) व्यापन शील जल को (आ अदहत्) तपा दिया है और (यत्र) जिस [सामर्थ्य] के आगे (धर्मधृतः) मर्यादा के रखनेवाले पुरुषों ने (नमांसि) अनेक प्रकार से नमस्कार (अकृण्वन्) किया है । (तत्र) उस [सामर्थ्य] में (ते) तेरे (परमम्) सब से ऊंचे (जनित्रम्) जन्म स्थान को (आहुः) वह [मर्यादापुरुष] बताते हैं, (सः=स त्वम्) सो तू, (तक्मन्) हे जीवन को कष्ट देने वाले , ज्वर ! [ज्वर समान पीड़ा देने वाले ईश्वर !] (संविद्वान्) [यह बात) जानता हुआ (नः) हमको (परि वृङ्धि) छोड़ दे ॥ १ ॥

भावार्थ—जो परमेश्वर उष्ण स्वभाव अग्नि द्वारा शीतल स्वभाव जल को तपाता है अर्थात् विरुद्ध स्वभाव वालों को संयोग वियोग से अनुकूल करके सृष्टि का धारण करता है, जिस परमेश्वर से बढ़ कर कोई मर्यादा पालक नहीं है जो स्वयंभु सब का अधिपति है, और ज्वर आदि रोगों से पापियों को दण्ड

१—**यत्** । यस्मात् सामर्थ्यात् । **अग्निः** । १ । ६ । २ । तेजः पदार्थ-विशेषः । औष्ण्यम् । **आ** । समन्तात् । **अपः** । १ । ४ । ३ । आप्नुवन्ति शरीर-मित्यापः । अस्य नित्यं बहुवचनत्वम् स्त्रीत्वं च । जलानि । प्राणान् । "आपः" य० १७। २६ । प्राणाः । इति दयानन्द सरस्वती । **अदहत्** । दह दाहे=सन्तापे-लङ् । अतपत् । **प्र-विश्य** । अन्तर्विगाह्य । **यत्र** । सामर्थ्ये । **अकृण्वन्** । कृवि हिंसाकरणयोः-लङ् । अकुर्वन् । **धर्म्मधृतः** । अर्त्तिस्तुसुहु० । उ० १। १४० । इति धृञ् धारणे—मन् । धरति लोकान् ध्रियते पुण्यात्मभिर्वा स धर्मः-न्यायः, मर्यादा । ततः । धृञ्—क्विप् , तुक् आगमः । धर्मधारकाः । मर्य्यादा-पालकाः पुरुषाः । **नमांसि** । णम प्रह्वत्वे-असुन् , आद्युदात्तः । नम्रभावान् । **तत्र** । सामर्थ्ये । **आहुः** । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि-लट् ब्रुवन्ति , कथयन्ति । **परमम्** । आतोऽनुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ४ । इति पर + मा माने-क । प्रधा-नम् । **जनित्रम्** । अशित्रादिभ्य इत्रोत्रौ । उ० ४ । १७३ । इति जन जनने, प्रादु-र्भावे-इत्र प्रत्ययः । जन्मस्थानम् । **सः** । स त्वम् । **सम्-विद्वान्** । विदेः शतु-र्वसुः । पा० ७ । १ । ३६ । इति विद ज्ञाने-शतुर्वसुरादेशः सम्यग् जानन् । ज्ञान-वान् । **परि-वृङ्ग्धि** । वृजी वर्जने—रुधादित्वात् श्नम् परिवर्जय, परित्यज ।

देता है. उस न्यायी जगदीश्वर का स्मरण करते हुये हम पापों से बच कर सदा आनन्द भोगें, सब विद्वान् लोग उस ईश्वर के आगे सिर झुकाते हैं ॥ १ ॥

यद्यर्चिर्यदि वासि शोचिः शकल्येषि यदि वा ते जनित्रम् । ह्रूडुर्नामासि हरितस्य देव स नः संविद्वान् परि वृङ्ग्धि तक्मन् ॥ २ ॥

यदि । अर्चिः । यदि । वा । असि । शोचिः । शकल्य-इषि । यदि । वा । ते जनित्रम् । ह्रूडुः । नाम । असि । हरितस्य । देव । सः । नः । सम्-विद्वान् । परि । वृङ्ग्धि । तक्मन् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यदि) चाहे तू (अर्चिः) ज्वाला रूप (यदि वा) अथवा (शोचिः) ताप रूप (असि) है (यदि वा) अथवा (ते) तेरा (जनित्रम्) जन्म स्थान (शकल्येषि) अंग अंग की गति में है । (हरितस्य) हे पीले रंग के (देव) देने वाले (ह्रूडुः) दबाने की कल (नाम असि) तेरा नाम है, (सः) सो तू (तक्मन्) जीवन को कष्ट देने वाले ज्वर! [ज्वर समान पीड़ा देने वाले ईश्वर] (संविद्वान्) [यह बात] जानता हुआ (नः) हमको (परि वृङ्ग्धि) छोड़ दे ॥ २ ॥

भावार्थ—यह परब्रह्म ज्वर आदि रोग से दुष्कर्मियों की नाड़ी नाड़ी को दुःख से दबा डालता है जैसे कोई किसी को दबाने की कल में दबावे ।

तक्मन् । सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४। १४५ । इति तकि कृच्छ्रजीवने=दुःखेन जीवने-मनिन् । हे कृच्छ्रजीवनकारिन्, ज्वर ॥

२—यदि । संभावनायाम्, चेत् । अर्चिः । अर्चिशुचिहुसृ० । उ० २। १०८ । इति अर्च पूजायाम्-इसि । अर्चिः, शोचिः, ज्वलतो नामधेयेषु—निघ० २ । १७ । ज्वलनकरः । शोचिः । शुच शोके, शौचे—पूर्ववत् इसि । शोचति । ज्वलति कर्मा, निघ० १ । १६ । तापकरः । शकल्य-इषि । शकि शम्योर्नित् । उ० १ । ११२ । इति शक्लृ शक्तौ—कल प्रत्ययः । शकलः खण्डः । पुनः समूहार्थे—य प्रत्ययः, ततः । क्विप् च । पा० ३ । २ । ७६ । इति इष गतौ क्विप् । शकल्यं अंग-

उस न्यायी जगदीश्वर का स्मरण करते हुये पापों से बच कर सदा आनन्द भोगें ॥ २ ॥

सायण भाष्य में (हूडुः) के स्थान में [रूडुः] पढ़ कर [रोहकः] उत्पन्न करने वाला अर्थ किया है ।

यदि॑ शो॒को यदि॑ वाभिशो॒को यदि॑वा राज्ञो॒ वरु॑ण॒स्यासि॑ पु॒त्रः । हू॒डुर्नामा॑सि हरितस्य देव॒ स नः॑ सं॒विद्वान् परि॑ वृङ्ग्धि तक्मन् ॥ ३ ॥

यदि॑ । शो॒कः । यदि॑ । वा॒ । अ॒भि॒-शो॒कः । यदि॑ । वा॒ । राज्ञः॑ । वरु॑णस्य । असि॑ । पु॒त्रः । हू॒डुः॑ । नाम॑ । अ॒सि॒ । ह॒रि॒त॒स्य॒ । दे॒व॒ । सः । नः॒ । स॒म्-वि॒द्वान् । परि॑ । वृ॒ङ्ग्धि॒ । त॒क्म॒न् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यदि) चाहे, तू (शोकः) हृदयपीड़क (यदि वा) चाहे (अभिशोकः) सर्व शरीर पीड़क है, (यदि वा) अथवा तू (राज्ञः) तेज वाले (वरुणस्य) सूर्य वा जल का (पुत्रः) पुत्र रूप (असि) है । (हरितस्य) हे पीले रंग के (देव) देने वाले] (हूडुः) दबाने की कल (नाम असि) तेरा नाम है. (सः) सो तू, (तक्मन्) हे जीवन को कष्ट देने वाले, ज्वर! [ज्वर समान पीड़ा देने हारे !] (संविद्वान्] [यह बात] जानता हुआ (नः) हम को (परि-वृङ्ग्धि) छोड़ दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मानसिक और शारीरिक पीड़ा, सूर्य्य की ताप वा जल से उत्पन्न ज्वर, और पीलिया आदि रोग, पाप अर्थात् ईश्वरीय नियम से विरुद्ध

समूहम् इष्यतीति शकल्येट् । अंगानां गतौ । जनित्रम् । म०१ । जन्मस्थानम् । हूडुः । ईषेः किच्च । उ० १ । ११२ । इति हूड गतौ , अत्र पीड़ने–कु । पीडा-यन्त्रम् । नाम । १ । २ । ३ । प्रसिद्धः । हरितस्य । हृञ् हरणे—इतन् । रोग-जनितस्य पीतवर्णस्य । देव । हे द्योतक , दातः । अन्यद् । व्याख्यातम्, म० १ ॥

३—शोकः । शुचि शोके-कर्तरि घञ् । चजोः कुघिण्ण्यतोः । पा० ७ । ३ । ५२ । इति कुत्वम् । मनःपीड़कः । अभि-शोकः । सर्वशरीरपीड़कः ।

आचरण का फल है, इस लिये मनुष्य पुरुषार्थ पूर्वक परमेश्वर के नियमों का पालन करें, और दुष्ट आचरण छोड़ कर सुखी रहें ॥ ३ ॥

नमः शीताय तक्मने नमो रूराय शोचिषे कृणोमि ।
यो अन्येद्युरुभयद्युरभ्येति तृतीयकाय नमो अस्तु तक्मने ॥ ४ ॥

नमः । शीताय । तक्मने । नमः । रूराय । शोचिषे । कृणोमि । यः । अन्ये द्युः । उभय-द्युः । अभि-एति । तृतीयकाय । नमः । अस्तु । तक्मने ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(शीताय) शीत (तक्मने) जीवन को कष्ट देनेहारे ज्वर [ज्वर रूप परमेश्वर] को (नमः)नमस्कार, और (रूराय) क्रूर (शोचिषे) ताप के ज्वर को [ज्वर रूप परमेश्वर को] (नमः) नमस्कार (कृणोमि) मैं करता हूं । (यः) जो (अन्येद्युः) एकान्तरा ज्वर और (उभयद्युः) दो अन्तरा ज्वर (अभि एति) चढ़ता है, [तस्मै] [उस ज्वर रूपको और] (तृतीयकाय) तिजारी (तक्मने) ज्वर [ज्वर रूप परमेश्वर] को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ॥४॥

राज्ञः । १ । १० । १ । दीप्यमानस्य, तेजस्विनः । वरुणस्य । १ । ३ । ३ । सूर्यतापस्य जलस्य वा । पुत्रः । १ । ११ । ५ । शोधकः । सुतः, तनूजः पुत्रवत् उत्पन्नः । अन्यद् व्याख्यानम्-म० २ ॥

४—शीताय । श्यैङ् गतौ-क्त । द्रवमूर्त्तिस्पर्शयोः श्यः । पा० ६।१।२४। इति सम्प्रसारणम् । हलः । पा० ६।४।२। इति दीर्घः । शीतलाय । शीतस्पर्शवते । तक्मने । म० १ । कृच्छ्रजीवनकारिणे रोगाय, ज्वराय ज्वरसमानाय परमेश्वराय । रूराय । स्फायितञ्चिवञ्चिशकि० । उ० २ । १३ । इति रुङ् वधे-रक्, दीर्घश्च । घातकाय, पीड़काय, क्रूराय । शोचिषे । म० २ । तापकराय । कृणोमि । कृवि हिंसाकरणयोः । करोमि । यः । तक्मा, ज्वरः । अन्येद्युः । अव्ययम् । अन्यस्मिन् दिने, परदिने । उभयद्युः । अव्ययम् । उभयस्मिन् द्वितीये-

भावार्थ—परमेश्वर अनेक प्रकार के ज्वर आदि रोगों से पापियों को कष्ट देता है, उस के क्रोध से भय मान कर हम खोटे कामों से बचकर सदा शान्त चित्त और आनन्द में मग्न रहें ॥ ४ ॥

सूक्तम् २६ ।

१--४ ॥ इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

युद्धप्रकरणम्—युद्ध का प्रकरण ॥

आरे३ऽसावस्मदस्तु हेतिर्देवासो असत् ।
आरे अश्मा यमस्यथ ॥ १ ॥

आरे । असौ । अस्मत् । अस्तु । हेतिः । देवासः । असत् ।
आरे । अश्मा । यम् । अस्यथ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(देवासः) हे विजयी शूर वीरो ! (असौ) यह (हेतिः) सांग या बर्छी (अस्मत्) हम से (आरे) दूर (अस्तु) रहे, और (अश्मा) वह पत्थर (आरे) दूर (असत्) रहे (यम्) जिसे (अस्यथ) तुम फैंकते हो ॥१॥

भावार्थ—युद्ध कुशल सेना पति लोग चक्रव्यूह, पद्मव्यूह, मकरव्यूह, क्रौञ्चव्यूह सूचीव्यूह, आदि से अपनी सेना का विन्यास इस प्रकार करें कि शत्रु के अस्त्र शस्त्र का प्रहार अपने प्रजा और सेना के न लगें, और न अपने अस्त्र शस्त्र उलट कर अपने ही लगें, किन्तु शत्रुओं का विध्वंस करें ॥ १ ॥

ऽहनि । अभि-एति । आगच्छति । तृतीयकाय । त्रेः सम्प्रसारणं च । पा०५ । २ । ५५ । इति त्रि-तीयः पूरणे, संप्रसारणं च । स्वार्थे कन् । तृतीयदिने आगच्छते ॥

१—आरे । दूरे । असौ । सा शत्रुप्रयुक्ता । हेतिः । १।१३।३। वज्राद्यायुधं शक्तिनामास्त्रम् । देवासः । १ । ७ । १ । आज्जसेरसुक् । पा० ७ । १ । ५० । इति असुक् । हे विजयिनो महात्मानः सेनापतयः । असत् । १ । २२ । २ । भवेत् । अश्मा । १।२।२ मेघः, आयुधवृष्टिः । पाषाणः । यम् । अश्मानम् । अस्यथ । असु क्षेपणे-लट्, दिवादित्वात् श्यन् । यूयं क्षिपथ ॥

सखासावस्मभ्यमस्तु रातिः सखेन्द्रो भगः ।
सविता चित्रराधाः ॥ २ ॥

सखा । असौ । अस्मभ्यम् । अस्तु । रातिः । सखा । इन्द्रः ।
भगः । सविता । चित्र-राधाः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(असौ) वह (रातिः) दान शील राजा (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (सखा) मित्र (अस्तु) होवे, (भगः) सब का सेवनीय, (सविता) लोकों को चलाने वाले सूर्य के समान प्रतापी, (चित्रराधाः) अद्भुत धन युक्त (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला (सखा) मित्र (अस्तु) होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा अपनी प्रजा, सेना और कर्मचारियों पर सदा उदारचित्त रहे और सूर्य के समान महा प्रतापी और ऐश्वर्यशाली और महाधनी होकर सब का हितकारी बने और सब की उन्नति से अपनी उन्नति करे ॥ २ ॥

यूयं नः प्रवतो नपान् मरुतः सूर्यत्वचसः ।
शर्म यच्छाथ सप्रथः ॥ ३ ॥

यूयम् । नः । प्र-वतः । नपात् । मरुतः । सूर्य-त्वचसः ।
शर्म । यच्छाथ । स-प्रथः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(प्रवतः) हे [अपने] भक्त के (नपात्) न गिराने हारे राजन् ! और (सूर्यत्वचसः) हे सूर्य समान प्रताप वाले (मरुतः) शत्रुओं के मारने हारे

२—सखा । १।२०।४। सुहृत्, मित्रम् । रातिः । क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् । पा० ३।३।१७४। इति रा दाने-क्तिच् । चितः । पा० ६।१।१६३। इति अन्तोदात्तः । उदारः, दाता राजा । इन्द्रः । १।२।३। परमैश्वर्यवान् । भगः । १।१४।१। भज सेवायाम्-घ । घत्वम् । सर्वैर्भजनीयः, सर्वैः सेवनीयः । सविता । १।१८।२। सर्वप्रेरकः । सर्ववशी, सूर्यवत् प्रतापी । चित्र-राधाः । चित्र+राध संसिद्धौ-असुन् । राध इति धननाम राध्नुवन्त्यनेनेति यास्कः-निघ० ४।४। विचित्रधनयुक्तः, अद्भुतधनः ॥

शूरवीर महात्माओ ! (यूयम) तुम सब (नः) हमारे लिये (सप्रथः) बहुत विस्तीर्ण (शर्म) सुख वा शरण (यच्छाथ) दान करो ॥ ३ ॥

भावार्थ—अपने भक्तों की रक्षा करने हारा राजा और महाप्रतापी धर्मधुरंधर शूरवीर मन्त्री आदि मिल कर प्रजा की सर्वथा रक्षा करके अपने शरण में रक्खें ॥ ३ ॥

टिप्पणी—अजमेर वैदिक यन्त्रालय और बंबई गवर्नमेन्ट के पुस्तक के संहिता पाठ में (सप्रथाः) पाठ अशुद्ध दीखता है, सायण भाष्य और बंबई के सेवकलाल कृष्णदास शोधित पुस्तक का (सप्रथः) पाठ शुद्ध जान कर हमने यहां पर लिया है ॥

सुषूदत मृडत मृडया नस्तनूभ्यः ।
मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥ ४ ॥

सुसूदत । मृडत । मृडय । नः । तनूभ्यः । मयः । तोकेभ्यः । कृधि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सुषूदत) तुम सब [हमें] अंगीकार करो, और (मृडत) सुखी करो, [हे राजन !] तू (नः) हमारे (तनूभ्यः) शरीरों को (मृडय)

३—यूयम् । प्रवतो नपात् मरुतश्च । प्र-वतः । १ । १३ । २ । भक्तस्य, सेवकस्य। भक्तान्। द्वितीयायां बहुवचनं वा। नपात् । १ १३ । २ । न पातयतीति । हे अपातनशील राजन् ! । मरुतः । १ । २० । १ । मारयन्ति शत्रून् ते । हे शूरवीराः पुरुषाः । सूर्य-त्वचसः । त्वच संवरणे-असुन् । सूर्यस्य त्वक् संवरणमिव संवरणं येषां ते। सूर्यसमानतेजस्काः। शर्म । १।२०।३। सुखम्, शरणम् । यच्छाथ । दाण् दाने-लेट् । प्रयच्छत, दत्त । स-प्रथः । सह+प्रथ ख्यातौ असुन्। प्रथसा सहितं, सविस्तारम् ॥

४—सुसूदत । षूद आश्रुतिहत्योः । निरासे च । आश्रुतिरङ्गीकारः । इति शब्दकल्पद्रुमः । अङ्गीकुरुत । मृडत । मृड सुखने । सुखयत । मृडय ।

सुख दे और (तोकेभ्यः) बालकों को (मयः) आनन्द (कृधि) कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—महाप्रतापी राजा और सुयोग्य कर्मचारी मिल कर सब प्रजा और उनकी सन्तानों की उत्तम शिक्षा आदि से उन्नति करें और सुख पहुंचाते रहें ॥ ४ ॥

सूक्तम् २७ ॥

१—४ ॥ प्रजापतिर्देवता । १ पंक्तिः ८×५, २—४ अनुष्टुप् ॥

युद्धप्रकरणम्—युद्ध का प्रकरण ॥

अमूः पारे पृ॑दाक्व॑स्त्रिषप्ता निर्ज॑रायवः ।
तासां॑ जरायु॑भिर्व॒यम॒क्ष्या॒ ३॒॑ वपि॑ व्ययामस्य-
घायोः प॑रिपन्थिन॑ः ॥ १ ॥

अमूः । पारे । पृदाक्वः । त्रि-सप्ताः । निः-जरायवः । तासाम् । जरायु॑-भिः । वयम् । अक्ष्यौ । अपि । व्ययामसि । अघ-योः । परि-पन्थिनः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अमूः) वह (त्रिषप्ताः) तीन [ऊंचे, मध्यम और नीचे] स्थान में फैली हुई, (निर्जरायवः) जरायु [गर्भ की झिल्ली] से निकली हुई (प्रदाक्वः) सर्पिणी [वा बाघिनी] रूप शत्रु सेनायें (पारे) उस पार [वर्तमान] हैं । (तासाम्) उनकी (जरायुभिः) जरायु रूप गुप्त चेष्टाओं सहित [वर्तमान] (अघायोः) बुरा चीतने वाले, (परिपन्थिनः) उलटे आचरण वाले शत्रु की (अक्ष्यौ) दोनों आंखों को (वयम्) हम (अपि व्ययामसिः) ढके देते हैं ॥ १ ॥

सुखय । तनूभ्यः । १ । १ । १ । शरीरेभ्यः । मयः ।१ । १३ । २ । सुखम् ।१ । तोकेभ्यः । १।१३ । २ । अपत्येभ्यः ॥

१—अमूः । परिदृश्यमानाः , ताः । पारे । पार कर्मसमाप्तौ—पचाद्यच्, अथवा पॄ पूर्तौ—घञ् । परतीरे । प्रान्तभागे , सीमाप्रदेशे । पृदाकुः । पर्दते-र्नित् सम्प्रसारणमल्लोपश्च । उ० ३ । ८० । इति पर्द अपानशब्दे—काकु, रेफस्य

भावार्थ –जब शत्रु की सेना अपने पड़ावों से निकल कर घात स्थानों पर ऐसी खड़ी होवे, जैसे सर्पिणी वा बाघिनी माता के गर्भ से निकल कर बहुत से उपद्रव फैलाती है, तब युद्ध कुशल सेनापति शत्रु सेना की गुप्त कपट चेष्टाओं का मर्म समझ कर ऐसी हल चल मचा दे कि शत्रु की दोनों, आंखें हृदय की और मस्तक की मुंद जावें और वह घबराकर हार मान लेवे ॥ १ ॥

सायणभाष्य में (निर्जरायवः) के स्थान में [निर्जरा इव] शब्द है ॥

विषूच्येतु कृन्तती पिनाकमिव बिभ्रती ।
विष्वंक् पुनर्भुवा मनोऽसमृद्धा अघायवः ॥ २ ॥

सम्प्रसारणं अकारलोपश्च । स्त्रियां ऊङ् । उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य । पा० ८ । २ । ४ । इति स्वरितः । पर्दते कुत्सितं शब्दयति सा पृदाकूः सर्पिणी व्याघ्री वा । सर्पिण्यो व्याघ्र्य इव वा दुष्टस्वभाः शत्रुसेनाः । **त्रि-सप्ताः** । १ । १ । १ । त्रि+षप समवाये—क्त । त्रिषु उच्चमध्यमनीचस्थानेषु सम्बद्धाः, स्थिताः । **निः-जरायवः** । निर्+जरायवः । १ । ११ । ४ । षिद्भिदादिभ्योऽङ् पा० ३ । ३ । १०४ । इति जॄ-ष्, वयोहानौ-अङ्, टाप् । ऋदृशोऽङि गुणः । पा० ७ । ४ । १६ । इति गुणः । जरा, वार्द्धक्यम्, शरीरनिर्बलत्वम् । किंजरयोः श्रिणः । उ० १ । ४ । इति जरा+इण् गतौ-ञुण् । जरां जीर्णताम् एति जरायुः, गर्भवेष्टनचर्म । निर्गता जरायोः, गर्भवेष्टनात् याः । निर्गतगर्भवेष्टनाः । घातस्थानात् प्रादुर्भूताः । **तासाम्** । पृदाकूरूपाणां शत्रुसेनानाम् । **जरायु-भिः** । पूर्ववत्, जरा+इण्-ञुण् । गर्भवेष्टनैः । गुप्तकपटचेष्टाभिः-इति यावत् । **वयम्** । योद्धारः पुरुषाः । **अक्ष्यौ** । १ । ८ । ३ । अशू व्याप्तौ—क्सि । यद्वा, अक्षू व्याप्तौ-इन्, ततो ङीप् । छान्दसं रूपम् पूर्ववत् स्वरितः । अक्षिणी, उभे मानसिकमास्तिकनेत्रे । **अपि-व्ययामसि** । व्येञ् संवरणे । इदन्तो मसिः । पा० ७ । १ । ४६ । इति मस इदन्तता । अपिव्ययामः, आच्छादयामः, स्वबुद्धिबलैः प्रमोहयामः । **अघायोः** । १ । २० । २ । अघं परहिंसनमिच्छतीति अघायुः । अनिष्टचारिणः । पापात्मनः । **परि-पन्थिनः** । छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ पर्यवस्थातरि । पा० ५ । २ । ८९ । इति परि+पथि गतौ—णिनि । निपातितः । युद्धे प्रत्यवस्थातुः, प्रतिकूलाचारिणः, शत्रोः ॥

विषू॑ची । एतु । कृन्तती । पिनाकम्-इव । बिभ्रती ।
विष्व॑क् । पुनः-भुवाः । मनः । असम्-ऋद्धाः । अघ-यवः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(पिनाकम् इव) त्रिशूल सा (बिभ्रती) उठाये हुये (कृन्तती) काटती हुयी [हमारी सेना] (विषूची) सब ओर फैल कर (एतु) चले । और (पुनर्भुवाः) फिर जुड़ कर आयी हुयी [शत्रु सेना] का (मनः) मन (विष्वक्) इधर उधर उड़ाऊ [हो जावे] (अघायवः) बुरा चीतने वाले शत्रु लोग (असमृद्धाः) निर्धन हो जावें ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे चतुर सेनापति अस्त्र शस्त्र वाली अपनी साहसी सेना के अनेक विभाग करके शत्रुओं पर झपट कर धावा मारता और उन्हें व्याकुल करके भगा देता है जिससे वह लोग फिर न तो एकत्र हो सकते और न धन जोड़ सकते हैं. ऐसे ही बुद्धिमान् मनुष्य कुमार्ग गामिनी इन्द्रियों को वश में करके सुमार्ग में चलावें और आनन्द भोगें ॥ २ ॥

सायण भाष्य में (पुनर्भुवाः) के स्थान में [पुनर्भवाः] है ॥

न बहवः सम॑शकन् नार्भ॑का अभि दा॑धृषुः ।
वे॒णोर॒द्गा इ॑वा॒भितो॑ऽसमृद्धा अघा॒यवः॑ ॥ ३ ॥

२—विषूची । १ । १९ । १ । नानाविधं गच्छन्ती, नानामुखी । एतु । गच्छतु । कृन्तती । कृती छेदने-शतृ । तुदादित्वात् शः । शे मुचादीनाम् । पा० ७ । १ । ५९ । इति नुम्, ततो ङीप् । छिन्दती, भिन्दती शत्रुसेना । पिनाकम् । पिनाकादयश्च । उ० ४ । १५ । पा रक्षणे पन स्तुतौ वा—आकप्रत्ययेन निपात्यते । त्रिशूलम् । बिभ्रती । १ । १ । १ । डुभृञ् धारणपोषणयोः—शतृ । उगितश्च । पा० ४ । १ । ६ । इति ङीप् । धारयन्ती । विष्वक् । १ । १९ । १ । नानामुखम्, अनवस्थितम् । पुनः-भुवाः । पुनः+भू सत्तायाम्—क्विप् । पुनः संयोभूतायाः पृदाकाः, शत्रुसेनायाः-इत्यर्थः । मनः । चित्तम् । असमृद्धाः । ऋधु वृद्धौ-क्त । असम्पन्नाः, निर्धनाः । अघायवः । म० १ । अनिष्टचिन्तकाः शत्रवः ॥

न । बहवः । सम् । अशकन् । न । अर्भकाः । अभि । दाधृषुः । वेणोः । अद्गाः-इव । अभितः । असम्-ऋद्धाः । अघ-यवः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(न) न तो (बहवः) बहुत से शत्रु (समशकन्) समर्थ हुये (न) और न (अर्भकाः) वह निर्बल हो जाने पर (अभिदाधृषुः) कुछ साहस कर सके, (वेणोः) बांस के (अद्गाः) मालपुत्रों के (इव) समान (अघायवः) बुरा चीतने वाले शत्रु (असमृद्धाः) निर्धन [होवें] ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा दुराचारी दुष्टों को ऐसा वश में करे कि वह एकत्र न हो सकें और न सता सकें, और जैसे नीरस सूखे बांस आदि तृण का भोजन पुष्टिदायक नहीं होता, इसी प्रकार सर्वथा निर्बल कर दिये जावें। इसी प्रकार मनुष्य आत्म शिक्षा करें ॥ ३ ॥

सायणभाष्य में (दाधृषुः) के स्थान में [दादृशुः] और (अद्गाः) के स्थान में [उद्गाः] है ॥

प्रेतं पादौ प्र स्फुरतं वहतं पृणतो गृहान् ।
इन्द्राण्येतु प्रथमाजीतामुषिता पुरः ॥ ४ ॥

३—बहवः । लङ्घिबंह्योर्नलोपश्च । उ० १ । २९ । इति बहि वृद्धौ-कु, नस्य लोपः । विपुलाः, हस्त्यश्वरथपदातियुक्ताः शत्रवः । सम् । सम्यक्, अल्पमपीत्यर्थः । अशकन् । शक्लृ शक्तौ-लुङ् । जेतुं शक्ता अभूवन् । अर्भकाः । अर्त्तिगृभ्यां भन् । उ० ३ । १५२ । इति ऋ गतौ-भन् स्वार्थे-कन् । दभ्रमर्भकमित्यल्पस्य । इति यास्कः-निरु० ३ । २० । अल्पाः, निर्बलाः । अभि । आभिमुख्येन । दाधृषु । धृषु संहतौ, हिंसे, प्रागल्भ्ये-लिट् । दीर्घः । धृष्टाः प्रगल्भा बभूवुः । वेणोः । अजिवृरीभ्यो निच्च । उ० ३ । ३८ । इति अज गतिक्षेपणयोः-णु । वीभावो गुणश्च । वंशकाण्डस्य नीरसतृणस्य इत्यर्थः । अद्गाः । गन् गम्यद्योः । उ० १ । १२२ । इति अद भक्षणे-गन् । अद्यते भक्ष्यते स अद्गः । पुरोडाशाः । अभितः । सर्वतः । अन्यद् व्याख्यातम् । म० २ ॥

प्र । इतम् । पादौ । प्र । स्फुरतम् । वहतम् । पृणतः । गृहान् ।
इन्द्राणी । एतु । प्रथमा । अजीता । अमुषिता । पुरः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(पादौ) हे हमारे दोनों पांव (प्रेतम्) आगे बढ़ो, (प्रस्फुरतम्) फुरती करे जाओ, (पृणतः) तृप्त करने वाले (गृहान्) कुटुम्बियों के पास [हमें] (वहतम्) पहुंचाओ । (प्रथमा) अपूर्व वा विख्यात (अजीता=अजिता) विना जीती और (अमुषिता) विना लूटी हुई (इन्द्राणी) इन्द्र की शक्ति, महा सम्पत्ति (पुरः) [हमारे] आगे आगे (एतु) चले ॥ ४ ॥

भावार्थ—१, महा प्रतापी शूर वीर पुरुषार्थी राजा विजय करके और बहुत धन प्राप्त करके सावधान होकर अपने घर को लौटे, और अपने मित्रों में अनेक प्रकार से उन्नति करके सुख भोग करे ॥

२—जितेन्द्रिय पुरुष आत्मस्थ परमेश्वर के दर्शन से परोपकार करके सुख प्राप्त करे ॥ ४ ॥

(इहेन्द्राणीमुपह्वये वरुणानीं स्वस्तये) ऋ० १ । २२ । १२ ।

इस मन्त्र में (इन्द्राणी) इन्द्र सूर्य वा वायु की शक्ति और (वरुणानी) वरुण जल की शक्ति ऐसा अर्थ श्रीमद् दयानन्द भाष्य में है ॥

४—**प्र+इतम्** । इण् गतौ—लोट् । युवां प्रकर्षेण गच्छतम् । **पादौ** । हे मम पादौ । **स्फुरतम्** । स्फुर स्फुर्तौ, चलने च—लोट् । शीघ्रं चलतम् । **वहतम्** । वह प्रापणे—लोट्, द्विकर्मकः । अस्मान् प्रापयतम् । **पृणतः** । पृण तर्पणे, तुदादिः—शतृ । तर्पयितॄन् सुखयितॄन् पुरुषान् । **गृहान्** । पुंलिङ्गम् । गेहे कः । पा० ३ । १ । १४४ । इति ग्रह आदाने-क । दारान् दारादीन् गृहस्थान् प्रति । **इन्द्राणी** । इन्द्राणीन्द्रस्य पत्नी-निरु० ११ । ३७ । इन्द्रस्य विभूतिः-इति दुर्गाचार्यस्तद्वृत्तौ । इन्द्रवरुणभवशर्व० । पा० ४ । १ । ४९ । इति इन्द्र-ङीप् आनुक् च । इन्द्रस्य ऐश्वर्यशालिनः पत्नी पालयित्री शक्तिः । महासमृद्धिः महालक्ष्मीः । **एतु** । इण्—गतौ । गच्छतु । **प्रथमा** । १ । १२ । १ । अपूर्वा । प्रख्याता, उत्कृष्टा । **अजीता** । जि-क्त । सांहितिको दीर्घः । अनिर्जिता, अपराभूता । **अमुषिता** । मुष वधे, लुण्ठने—क्त । अनपहृता । **पुरः** । पुरस्तात् । अस्माकम् अग्रे ॥

सूक्तम् २८ ॥

१—४ । अग्निर्देवता । १-३ अनुष्टुप्, ४ पङ्क्तिः ।

युद्धप्रकरणम्—युद्ध का प्रकरण ॥

उप॒ प्रागा॑द् दे॒वो अ॒ग्नी र॑क्षो॒हामी॑व॒चात॑नः ।
द॒हन्नप॑ द्व॒याविनो॑ यातु॒धाना॑न् किमी॒दिनः॑ ॥ १ ॥

उप॑ । प्र । अ॒गा॒त् । दे॒वः । अ॒ग्निः । र॒क्षः॒-हा । अ॒मी॒व॒-चात॑नः ।
द॒हन् । अप॑ । द्व॒याविनः॑ । या॒तु॒-धाना॑न् । कि॒मी॒दिनः॑ ॥ १॥

भाषार्थ—(रक्षोहा) राक्षसोंका मार डालने वाला (अमीवचातनः) दुःख मिटाने वाला (देवः) विजयी (अग्निः) अग्नि रूप सेनापति (द्वयाविनः) दुमुखे कपटी, (यातुधानान्) पीड़ा देने वाले (किमीदिनः) यह क्या है यह क्या है ऐसा करने वाले छली सूचकों वा लंपटों को (अप दहन्) मिटाकर भस्म करता हुआ (उप) हमारे समीप (प्र-अगात्) आ पहुंचा है ॥ १ ॥

भावार्थ—जब सेनापति अग्नि रूप होकर शतघ्नी [तोप] भुशुण्डी [बन्दूक] धनुष् बाण तरवारि आदि अस्त्र शस्त्रों से शत्रुओं का नाश करता है तब राज्य में शान्ति रहती है ॥ १ ॥

१—अगात् । इण गतौ-लुङ् । अगमत् । देवः । १ । ७ । १ । विजयी । अग्निः । अग्निवत् तेजस्वी सेनापतिः । रक्षः-हा । रक्ष पालने-अपादाने, असुन् रक्षो रक्षितव्यमस्मात् । इति यास्कः-निरु ४ । १८ । बहुलं छन्दसि । पा० ३ । २ । ८८ । इति रक्षः+हन-क्विप् । हिंसकानां हन्ता । अमीव-चातनः । इणशीभ्यां वन् । उ० १ । १५२ । इति बाहुलकात् अम रोगे-वन्, ईडागमः । अमीवं दुःखम् । चातयतिर्नाशने-निरु० ६ । ३० । दुःखानां नाशयिता । अप+दहन् । दह-शतृ । संतापयन्, । भस्मसात् कुर्वन् । द्वयाविनः । द्वयं वाचिकं माधुर्यं मानसिकं हिंसनं च येषामस्तीति । बहुलं छन्दसि ॥ पा० ५ । २ । १२२ । इति द्वय-विनिप्रत्ययः । दीर्घश्च । मायाविनः । यातु-धानान् । १ । ७ । १ । पीड़ाप्रदान् । किमीदिनः, । १ । ७ । १ । पिशुनान, कपटिनः, सूचकान् ॥

प्रति दह यातुधानान् प्रति देव किमीदिनः ।
प्रतीचीः कृष्णवर्तने सं दह यातुधान्यः ॥ २ ॥

प्रति । दह । यातु-धानान् । प्रति । देव । किमीदिनः ।
प्रतीचीः । कृष्ण-वर्तने । सम् । दह । यातु-धान्यः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देव) हे विजयी सेनापति (यातुधानान्) दुःखदायी और द्वारा (किमीदिनः) क्या क्या करने हारे छली सूचकों को (प्रति) एक एक करके (प्रतिदह) जला दे। (कृष्णवर्तने) हे धूंआ धाड़ मार्ग वाले अग्नि रूप सेनापति (प्रतीचीः) सन्मुख धावा करती हुयी (यातुधान्यः=०—नीः) दुःखदायिनी शत्रु सेनाओं को (सम् दह) चारों ओर से भस्म करदे ॥ २ ॥

भावार्थ—युद्धकुशल सेनापति अपने घातस्थानों से तोप तुपक आदि द्वारा अग्नि के समान धुआं धाड़ करता हुआ शत्रुओं के मुखियाओं और सेनादलों को व्याकुल करके भस्म कर देवे ॥ २

सायण भाष्य में (कृष्णवर्तने) के स्थान में [कृष्णवर्तमने] पद और उस का अर्थ [हे कृष्णवर्तमन्] है ॥

या शशाप शपनेन याघं मूरमादधे ।
या रसस्य हरणाय जातमारेभे तोकमत्तु सा ॥३॥

२—प्रति । प्रतिमुखम् । प्रत्येकम् । दह । भस्मीकुरु, यातु-धानान् । म० १ । पीड़ादातॄन्, राक्षसान् । देव । म० १ । हे विजयशील ! । किमीदिनः । म० १ । पिशुनान् । प्रतीचीः । ऋत्विग्दधृक० । पा० ३ । २ । ५९ । इति । प्रति+ अञ्चु गतिपूजनयोः-क्विन् । नलोपः । ङीप् । यथा विषूचीः शब्दः, १ । १६ । १ । प्रतिकूलं गच्छन्तीः । कृष्ण-वर्तने । वृतेश्च । उ० २ । १०६ । इति वृतु वर्तने- अनि । कृष्णा कृष्णवर्णा शतघ्नी भुशुण्ड्यादिप्रसारितधूमेन वर्तनिः वर्तिः पन्थाः यस्य सः, अग्निर्वा । हे कृष्णमार्ग, अग्निरूपसेनापते । सम् । सम्यक्, सर्वथा । यातु-धान्यः । पुंयोगादाख्यायाम् । पा० ४ । १ । ४८ । इति यातु- धान-ङीप्, शसः स्थाने छन्दसि जस् । यणि कृते स्वरितः । यातुधानीः पीड़ा- दायिनीः शत्रुसेनाः ॥

या । शुशाप॑ । शप॑नेन । या । अघम् । मूर॑म् । आ-दुधे ।
या । रस॑स्य । हर॑णाय । जातम् । आ-रे॒भे । तोकम् । अत्तु । सा ॥३॥

भाषार्थ—(या) जिस [शत्रुसेना] ने (शपनेन) शाप [कुवचन] से (शशाप) कोसा है और (या) जिस ने (अघम्) दुःख की (मूरम्) मूल को (आदधे) आकर जमाया है। और (या) जिस ने (रसस्य) रसके (हरणाय) हरण के लिये (जातम्) [हमारे] समूह को (आरेभे) हाथ लगाया है, (सा) वह [शत्रुसेना] (तोकम्) अपनी बढ़ती वा सन्तान को (अत्तु) खालेवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—रण क्षेत्र में जब शत्रु सेना कोलाहल मचाती, धावा मारती और लूट खसोट करती आगे बढ़ती आवे, तो युद्धकुशल सेनापति शत्रुओं में भेद डाल दे कि वह लोग आपस में लड़ मरें और अपने सन्तान अर्थात् हितकारियों का ही नाश करदें ॥ ३ ॥

सायण भाष्य में (आदधे) के स्थान में [आदद्दे] पाठ है ॥

३—या । यातुधानी शत्रुसेना । शशाप । शप आक्रोशे—लिट् । शापं । अनिष्टकथनं कृतवती । शपनेन । शप आक्रोशे—करणे ल्युट् । आक्रोशेन, कुवचनेन । अघम् । अघ पापकरणे—णिच्—अच् । पापं, दुःखम् । दुःखकरम् । मूरम् । क्विप् च । पा० ३ । २ । ७६ । इति मुर्छा मोहसमुच्छ्राययोः—क्विप् । राल् लोपः । पा० ६ । ४ । २१ । इति छकारलोपः । मूर्च्छाकरम् । यद्वा । मूल, प्रतिष्ठायाम्, रोपणे-कु, लस्य रकारः । मूलम् । प्रतिष्ठाम् । अघं मूरम् । दुःखकरं मूलं शरणम् । आ-दधे । आङ्+डुधाञ् धारणपोषणयोः, दाने च—लिट् । परि जग्राह । रसस्य । रस आस्वादे-पचाद्यच् । सारस्य, बलस्य, धनस्य, आनन्दस्य । हरणाय । अपहरणाय, नाशनाय । जातम् । जनी प्रादुर्भावे-क्त । अस्माकं समूहम् । आ-रेभे । आङ् पूर्वात् लभ प्र.लम्भे=स्पर्शे-लिट्, लस्य रकारः । आलेभे, स्पृष्टवती । तोकम् । १ । १३ । २ । वृद्धिकरं । सन्तानम् । अत्तु । अत्तयतु नाशयतु । सा । शत्रुसेना ।

पुत्रम॑त्तु यातुधा॒नीः स्वसा॑रमु॒त न॒प्त्य॑म् ।
अधा॑ मि॒थो वि॑के॒श्यो॒ ३॒ वि घ्न॑तां यातुधा॒न्यो॒ ३॒
वि तृ॑ह्यन्तामरा॒य्यः॑ ॥ ४ ॥

पु॒त्रम् । अ॒त्तु । या॒तु॒-धा॒नीः । स्वसा॑रम् । उ॒त । न॒प्त्य॑म् ।
अध॑ । मि॒थः । वि॒-के॒श्यः॑ । वि । घ्न॒ता॒म् । या॒तु॒-धा॒न्यः॑ ।
वि । तृ॒ह्य॒न्ता॒म् । अ॒रा॒य्यः॑ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यातुधानीः=०—नी) दुःख दायिनी, [शत्रुसेना] (पुत्रम्) [अपने] पुत्र को, (स्वसारम्) भली भांति काम पूरा करने हारी बहिन को (उत) और (नप्त्यम्=नप्त्रीम्) नातिनी वा धेवती को (अत्तु) खालेवे अर्थात् नष्ट करे। (अध) और (विकेश्यः) केश बिखेरे हुये वह सब [सेनायें] (मिथः) आपस में (विघ्नताम्) मर मिटें और (अराय्यः) दान अर्थात् कर न देने हारी (यातुधान्यः) दुःख पहुंचाने हारी [शत्रु प्रजायें] (वितृह्यन्ताम्) विविध प्रकार के दुःख उठावें ॥ ४ ॥

भावार्थ—चतुर सेनापति राजा अपनी बुद्धि बल से दुष्ट शत्रुसेना में हलचल मचादे कि वह सब घबराकर आपस में कट मर कर एक दूसरे को सताने लगें और जो प्रजा गण हठ दुराग्रह करके, कर आदि न देवें उन को दण्ड देकर वश में कर लेवे ॥ ४ ॥

४—पुत्रम् । १ । ११ । ५ । स्वसुतम् । यातु-धानीः । म० २ । प्रथमैकवचनं छन्दसि यथा श्रीः । यातुधानी, दुःखप्रदा, शत्रुसेना । स्वसारम् । सावसेर्ऋन् । उ० २ । ९६ । इति सु + असु क्षेपणे—ऋन् । सुष्ठु अस्यति समाप्नोति कार्याणि सा स्वसा । भगिनीम् । उत । अपि च । नप्त्यम् । नप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृ० उ० २ । ९५ । इति न + पत अधोगमने—तृच् । न पतति वंशो यस्मात् स नप्ता । ऋन्नेभ्योङीप् । पा० ४ । १ । ५ । इति नप्तृशब्दात् ङीप् । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति पूर्व रूपस्य विकल्पाद् यणादेशः । नप्त्रीम् , पौत्रीं दौहित्रीं वा । अध । अस्य धः । अथ, अनन्तरम् । मिथः । मिथ वधे, मेधायाम्—

तीनों संहिताओं में (यातुधानीः) सविसर्ग पाठ लेख प्रमाद दीखता है । सायण भाष्य में (यातुधानी) विसर्ग रहित व्याख्यात है वह (अत्तु) क्रिया के संबन्ध में ठीक है॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अथ षष्ठोऽनुवाकः ॥



सूक्तम् २८ ।

१—६ ॥ ब्रह्मणस्पतिर्देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

राजसूययज्ञोपदेशः—राज तिलक यज्ञ के लिये उपदेश ॥

अभीवर्तेन मणिना येनेन्द्रो अभिवावृधे ।
तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्धय ॥ १ ।

अभि-वर्तेन । मणिना । येन । इन्द्रः । अभि-ववृधे ।
तेन । अस्मान् । ब्रह्मणः । पते । अभि । राष्ट्राय । वर्धय ॥ १ ॥

भावार्थ—(येन) जिस (अभिवर्तेन) विजय करने वाले, (मणिना) मणि से [प्रशंसनीय सामर्थ्य वा धन से] (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला पुरुष

असुन्, पृषोदरादित्वात् ह्रस्वः । अन्योऽन्यम् परस्परम् । वि-केश्यः । स्वाङ्गाच्चोपसर्जनाद् सं० । पा० ४ । १ । ५४ । इति विकेश-ङीप् । विकीर्णकेशयुक्ताः परस्परताडने न वि । विविधम् । घ्नताम् । हन हिंसागत्योः-लोटि बहुवचने । हन्यन्ताम् । म्रियन्ताम् । यातुधान्यः । म० १ । पीड़ाप्रदाः शत्रुसेनाः । तृह्यन्ताम् । तृह हिंसायाम्-कर्मणि लोट् । हिंस्यन्ताम् । अराय्यः । रा दाने-घञ् युक् आगमः, ङीप् । अदानशीलाः प्रजाः ॥

१अभि—वर्तेन । अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् । पा० ३ । ३ । १९ । इति अभि+वृतु वर्तने भवने—घञ् छान्दसो दीर्घः । अभिवर्तते अभिभवति शत्रून्

(अभि) सर्वथा (ववृधे) बढ़ा था । (तेन) उसी से , (ब्रह्मणस्पते) हे वेद वा ब्रह्म [वेदवेत्ता] के रक्षक परमेश्वर! (अस्मान्) हम लोगों को (राष्ट्राय) राज्य भोगने के लिये (अभि) सब ओर से (वर्धय) तू बढ़ा ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार हम से पहिले मनुष्य उत्तम सामर्थ्य और धन को पाकर महा प्रतापी हुये हैं, वैसे ही उस सर्व शक्तिमान् जगदीश्वर के अनन्त सामर्थ्य और उपकार का विचार करके हम लोग पूर्ण पुरुषार्थ के साथ (मणि) विद्याधन और सुवर्ण आदि धन की प्राप्ति से सर्वदा उन्नति करके राज्य का पालन करें ॥ १ ॥

मन्त्र १–३, ६ ऋग्वेद मंडल १० सूक्त १७४ । म० १–३ और ५ कुछ भेद से हैं । जैसे (मणिना) के स्थान में [हविषा] पद है , इत्यादि ॥

अभिवृत्यं सपत्नानुभि या नो अरातयः ।
अभि पृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो नो दुरस्यति ॥ २ ॥

अभि-वृत्यं । स-पत्नान् । अभि । याः । नः । अरातयः ।
अभि । पृतन्यन्तम् । तिष्ठ । अभि । यः । नः । दुरस्यति ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे ब्रह्मणस्पते] (सपत्नान्) [हमारे] प्रतिपक्षियों को , और (याः) जो (नः) हमारी (अरातयः) कर न देने हारी प्रजायें हैं ,

---

न अभिवर्तः । अभिभवनशीलेन , जयशीलेन । मणिना । सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । मण कूजे—इन् । रत्नेन , प्रशंसनीयसामर्थ्येन धनेन, वा राजचिन्हेन । इन्द्रः । १ । २ । ३ । परमैश्वर्यवान् पुरुषो जीवः । अभि-ववृधे । वृधु वृद्धौ—लिट् तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य । पा० ६ । १ । ७ । इति दीर्घः । अभितः सर्वतः प्रवृद्धो बभूव । तेन । मणिना । ब्रह्मणः+पते । १ । ८ । ४ । १ । १ । १ । षष्ठ्याः पतिपुत्र० । पा० ८ । ३ । ५३ । इति विसर्जनीयस्य सत्वम् । हे ब्रह्मणो वेदस्य विप्रस्य वा पालक परमेश्वर ! । राष्ट्राय । सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् । उ० ४ । १५९ । इति राजृ दीप्तौ ऐश्वर्ये च ष्ट्रन् । राजति ऐश्वर्यकर्मा-निघ० २ । २१ । व्रश्चभ्रस्जसृज० । पा० ८ । २ । ३६ । इति षः । राज्यवर्धनाय वर्धय । वृधु वृद्धौ—णिच् लोट् । समर्धय , समृद्धान् कुरु ॥

[उनको] (अभि) सर्वथा (अभिवृत्य) जीतकर (प्रतन्यन्तम्) सेना चढ़ा कर लाने वाले शत्रु को [और उस पुरुष को] (यः) जो (नः) हम से (दुरस्यति) दुष्ट आचरण करे, (अभि)सर्वथा (अभि तिष्ठ) तू दबा ले ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा परमेश्वर पर श्रद्धा कर के अपने स्वदेशी और विदेशी दोनों प्रकार के शत्रुओं को यथा योग्य दंड देकर वश में रक्खे ॥ २ ॥

टिप्पणी—(अरातयः) शब्द का अर्थ ऋ० १० । १७४ । २ । में सायणाचार्य ने भी अदानशील प्रजा किया है ॥

अभि त्वा देवः सविताभि सोमो अवीवृधत् ।
अभि त्वा विश्वा भूतान्यभीवर्तो यथासंसि ॥ ३ ॥

अभि । त्वा । देवः । सविता । अभि । सोमः । अवीवृधत् ।
अभि । त्वा । विश्वा । भूतानि । अभि-वर्तः । यथा । असंसि ॥३॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (देवः) प्रकाशमय (सविता) लोकों के चलाने हारे, सूर्य्य और (सोमः) अमृत देने वाले, चन्द्रमा ने (त्वा) तेरी

२—अभि-वृत्य । अभि+वृतु—ल्यप् । अभिभूय, पराजित्य । सपत्नान् । १ । ६ । १ प्रतियोगिनः स्वदेशिनः शत्रून् । अभि । अभितः । सर्वथा । याः । ताः याः । अरातयः । १ । २ । २ । अदानशीलाः प्रजाः । इति सायणोऽपि ऋ० १० । १७४ । २ । अभि+तिष्ठ । अभिभव,पराजय,त्वं ब्रह्मणस्पते । पृतन्यन्तम् । १ । ३१ । २ । सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । इति पृतना क्यच्-शतृ । पृतनाः सेना आत्मानमिच्छन्तं युयुत्सुम् । यः= तम् यः । नः । अस्मान् । दुरस्यति । दुरस्युर्द्रविणस्युर्वृषण्यति रिषण्यति । पा०७ । ४ । ३६ । इति क्यचि दुष्ट शब्दस्य दुरस् भावो निपात्यते । दुष्टीयति दुष्टम् । अनिष्टं कर्तुमिच्छति ॥

३—अभि । अभितः सर्वतः । त्वा । त्वाम् ब्रह्मणस्पतिम् । देवः । प्रकाशमयः । सविता । १ । १८ । २ । सूर्यः । सोमः । १ । ६ । २ । सवति अमृ-

(अभि अभि) सब प्रकार से (अवीवृधत्) बड़ाई की है । और (विश्वा) सब (भूतानि) सृष्टि के पदार्थों ने (त्वा) तेरी (अभि) सब प्रकार [बड़ाई की है.,] (यथा) क्यों कि तू (अभिवर्तः) [शत्रुओं का] दबाने वाला (असति) है ॥३॥

भावार्थ—सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल पदार्थों की रचना और उपकार से उस परमेश्वर की महिमा दीख पड़ती है, उसी अन्तर्यामी के दिये हुये आत्मबल से शूर वीर पुरुष रणभूमि में राक्षसों को जीत कर राज्य में शान्ति फैलाते हैं ॥ ३ ॥

अभीवर्तो अभिभवः सपत्नक्षयणो मणिः ।
राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवे ॥ ४ ॥

अभि-वर्तः । अभि-भवः । सपत्न-क्षयणः । मणिः ।
राष्ट्राय । मह्यम् । बध्यताम् । स-पत्नेभ्यः । परा-भुवे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अभिवर्तः) शत्रुओं का जीतने वाला, और (अभिभवः) हराने वाला, और (सपत्नक्षयणः) प्रतिपक्षियों का नाश करने वाला (मणिः) मणि [प्रशंसनीय सामर्थ्य] रत्न आदि राज्य चिन्ह (मह्यम्) मुझपर (राष्ट्राय)

तम् । चन्द्रः । **अवीवृधत्** । वृधु वृद्धौ, णिच-लुङ् । वर्धितवान्, अस्तावीत् अभि-अभि अवीवृधन् अस्तुवन् । **विश्वा** । शेर्लुक् । विश्वानि सर्वाणि । **भूतानि** । प्राणिजातानि, चराचरात्मकानि वस्तून, तत्त्वानि । **अभिवर्तः**— । म० १ । वृतु-घञ् । अभिभविता, शत्रुजेता । **यथा** । यस्मात् कारणात् । **असत्ति** । अस भुवि-लट् । बहुलं छन्दसि । पा० २ । ४ । ७३ । इति शपोऽलुक् । असि भवसि ॥

४—**अभिवर्तः** । म० १ । जयशीलः । **अभिभवः** । अभि+भू-अप् अभिभविता । **सपत्न-क्षयणः** । नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः । पा० ३ । १ । १३४ । इति सपत्न पूर्वात् क्षि क्षये-कर्तरि ल्यु । शत्रूणां क्षयकरः । **मणिः** ।

राज्य की वृद्धि के लिये और (सपत्नेभ्यः) वैरियों को (पराभुवे) दबाने के लिये (वध्यताम्) बांधा जावे ॥ ४ ॥

भावार्थ—राज्य लक्ष्मी का प्रभाव जताने के लिये राजा मणि रत्न आदि को धारण करके अपना सामर्थ्य बढ़ावे और राज सभा में राज सिंहासन पर विराजे कि जिससे शत्रु दल भयभीत होकर आज्ञाकारी बने रहें और राज्य में ऐश्वर्य की सदा वृद्धि होवे ॥ ४ ॥

उदसौ सूर्यो अगादुदिदं मामकं वचः ।
यथाहं शत्रुहोऽसान्यसपत्नः सपत्नहा ॥ ५ ॥

उत् । असौ । सूर्यः । अगात् । उत् । इदम् । मामकम् । वचः ।
यथा । अहम् । शत्रु-हः । असानि । असपत्नः । सपत्न-हा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(असौ) वह (सूर्यः) लोकों का चलाने हारा सूर्य (उत् अगात्) उदय हुआ है और (इदम्) यह (मामकम्) मेरा (वचः) वचन (उत्=उत् अगात्) उदय हुआ है (यथा) जिस से कि (अहम्) मैं (शत्रुहः) शत्रुओं का

म० १। रत्नम् । प्रशस्तं समर्थ्यम् । **राष्ट्राय** । म० १ । राज्यवर्धनाय । **मह्यम्** । मदर्थम् । **बध्यताम्** । बन्ध बन्धने, कर्मणि लोट् । धार्यताम् । **सपत्नेभ्यः** । शत्रुभ्यः । **पराभुवे** । परा+भू-भावे क्विप् । पराभवनाय ॥

५—**उत्+अगात्** । १ । २८ । १ । उदितवान् । **सूर्यः** । १ । ३ । ५ । लोकानां प्रेरकः । आदित्यः, राज्यलक्ष्मीरूपः । **उत्**=उत् अगात् । **इदम्** । वक्ष्यमाणं वचनम् । **मामकम्** । तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । इति अस्मद् अण् । तवकममकावेकवचने । पा० ४ । ३ । ३ । इति ममकादेशः । मदीयम् । **वचः** । वच कथने-असुन् । वाक्यम् वचनम् । **यथा** । येन कारणेन । **अहम्** । राजा । **शत्रु-हः** । अशिषि हनः । पा० ३ । २ । ४९ । इति शत्रु+हन हिंसागत्योः-डप्रत्ययः । शत्रूणां हन्ता । **असानि** । अस सत्तायां-लोट् । अहं

मारने वाला, और (सपत्नहा) रिपु दल का नाश करने वाला होकर (असपत्नः) शत्रु रहित (असानि) रहूं ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा राज सिंहासन पर विराज कर राजघोषणा करे कि जिस प्रकार पृथिवी पर सूर्य प्रकाशित है उसी प्रकार से यह राज घोषणा [ढंढोरा] प्रकाशित की जाती है कि राज्य में कोई उपद्रव न मचावे, और न अराजकता फैलावे ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध ऋ० १० । १५९ । १ । का पूर्वार्ध है वहां (वचः) के स्थान में (भगः) है ॥

सपत्नक्षयणो वृषाभिराष्ट्रो विषासहिः ।
यथाहमेषां वीराणां विराजानि जनस्य च ॥ ६ ॥

सपत्न-क्षयणः । वृषा । अभि-राष्ट्रः । वि-ससहिः ।
यथा । अहम् । एषाम् । वीराणाम् । वि-राजानि । जनस्य । च ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यथा) जिस से कि (सपत्नक्षयणः) शत्रुओं का नाश करने वाला (वृषा) ऐश्वर्य वाला (विषासहिः) सदा विजय वाला (अहम्) मैं (अभिराष्ट्रः) राज्य पाकर (एषाम्) इन (वीराणाम्) वीर पुरुषों का (च) और (जनस्य) लोकों का (विराजानि) राजा रहूं ॥ ६ ॥

भवानि । असपत्नः । म० २ । शत्रुरहितः । सपत्नहा । क्विप् च । पा० ३ । २ । ७६ । इति सपत्न+हन-क्विप् । रिपुहन्ता ॥

६—सपत्न-क्षयणः । म० ४ । शत्रुनाशकः । वृषा । १ । १२ । १ । वृषु ऐश्वर्ये-कनिन् । ऐश्वर्यवान् । सुखवर्षकः । इन्द्रः । महाबली । अभि-राष्ट्रः । म० १ । अभिगतराज्यः । प्राप्तराज्यः । वि षासहिः । सहिवहिचलिपतिभ्यो यङन्तेभ्यः किकिनौ वक्तव्यौ । वा० पा० ३ । २ । १७१ । इति षह अभिभवे-कि । अतोलोपयलोपौ । विविधं पुनः पुनः परेषां सोढा, अभिभविता । एषाम् । उपस्थितानाम् । वीराणाम् । वीर विक्रान्तौ-पचाद्यच् । विक्रान्तानां, शूराणाम्, भटानाम् । वि-राजानि । राजति=ईष्टे—निघ० २ । २१ । ईश्वरः

भावार्थ—राजा सिंहासन पर विराज कर राजघोषणा करते हुये शूरवीर योद्धाओं और विद्वान् जनों का सत्कार और मान करके शासन करे ॥ ६ ॥

सूक्तम् ३० ॥

१—४ ॥ विश्वेदेवा देवताः । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजसूययज्ञोपदेशः—राज तिलक यज्ञ के उपदेश ॥

विश्वे देवा वसवो रक्षतेममुतादित्या जागृत यूयमस्मिन् । मेमं सनाभिरुत वान्यनाभिर्मेमं प्रापत् पौरुषेयो वधो यः ॥ १ ॥

विश्वे । देवाः । वसवः । रक्षत । इमम् । उत । आदित्याः । जागृत । यूयम् । अस्मिन् । मा । इमम् । स-नाभिः । उत । वा । अन्य-नाभिः । मा । इमम् । प्र । आपत् । पौरुषेयः । वधः । यः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वसवः) हे श्रेष्ठ (विश्वे) सब (देवाः) प्रकाशमान महात्माओ ! (इमम्) इस पुरुष की (रक्षत) रक्षा करो, (उत) और (आदित्याः) हे सूर्य समान तेज वाले विद्वानो ! (यूयम्) तुम (अस्मिन्) इस राजा के विषय में (जागृत) जागते रहो । (सनाभिः) अपने बन्धु का, (उत वा)

शासिता भवानि । जनस्य । जनी प्रादुर्भावे-अच् । अधीगर्थदयेषां कर्मणि । पा० २ । ३ । ५२ । इति षष्ठी । लोकस्य, प्राणिजातस्य ॥

१—देवाः । १ । ७ । १ । विजयिनः पुरुषाः । वसवः । १ । ६ । १ । निवासयितारः । प्रशस्ताः श्रेष्ठाः । रक्षत । पालयत । इमम् । माम् राजानम् । आदित्याः । १ । ६ । १ । विद्यादिशुभगुणानां रसस्य आदातारो ग्रहीतारः । अथवा आदित्यवत् तेजस्विनः महाविद्वांसः । जागृत । जागृ निन्द्राक्षये—लोट् । प्रबुद्धा रक्षार्थम् अवहिताः संनद्धा भवत । मा । निषेधे । स-नाभिः ।

अथवा (अन्यनाभिः) अबन्धु का, अथवा (पौरुषेयः) किसी और पुरुष का किया हुआ, (यः) जो (वधः) वध का यत्न है [वह] (इमम्) इस (इमम्) इस पुरुष को (मा मा) कभी न (प्रापत्) पहुंच सके ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा अपने सुपरीक्षित न्याय, मन्त्री और युद्ध मन्त्री। आदि कर्मचारी शूरवीरों को राज्य की रक्षा के लिये सदा चेतन्य करता रहे कि कोई सजाती वा स्वदेशी वा विदेशी पुरुष प्रजा में अराजकता न फैलावे ॥ १ ॥

ये वो॑ दे॒वाः पि॒तरो॒ ये च॑ पु॒त्राः सचे॑तसो मे शृणुते॒द॒मु॒क्तम् । सर्वे॑भ्यो वः॒ परि॑ ददाम्ये॒तं स्व॒स्त्ये॑नं ज॒रसे॑ वहाथ ॥ २ ॥

ये । वः॒ । दे॒वाः । पि॒तरः॑ । ये । च॒ । पु॒त्राः । स॒-चे॑तसः । मे॒ । शृणु॒त॒ । इ॒दम् । उ॒क्तम् । सर्वे॑भ्यः । वः॒ । परि॑ । द॒दा॒मि॒ । ए॒तम् । स्व॒स्ति । ए॒न॒म् । ज॒रसे॑ । व॒हा॒थ॒ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विजयी देवताओ ! और (ये) जो (वः) तुम्हारे (पितरः) पितृगण (च) और (ये) जो (पुत्राः) पुत्रगण हैं, वह तुम सब (सचेतसः) सावधान हो कर (मे) मेरे (इदम्) इस (उक्तम्) वचन को

नहो भश्च । उ० ४ । १२६ । इति णह बन्धने-कर्मणि इञ् समानस्य सः । समानेन स्वकीयेन संबद्धः । स्वजातिकृतो वधः । अन्य-नाभिः । अन्येन संबद्धः । अज्ञातिकृतो वधः प्र+आपत् । आप्लृ व्याप्तौ—लुङि । प्राप्नोतु । पौरुषेयः । सर्वपुरुषाभ्यां णढञौ । पा० ५ । १ । १० । इत्यत्र । पुरुषाद् वधविकारसमूहतेनकृतेषु । वार्तिकम् । इति पुरुष-ढञ् । पुरुषकृतः । वधः । १ । २० । २ । हननम् । हिंसनप्रयोगः ॥

२—पितरः । १ । २ । १ । पालकाः, उत्पादकाः । पुत्राः । १ । ११ । ५ । आत्मजाः । स-चेतसः । समान+चिती ज्ञाने—असुन् । समानस्य छन्दसि० । पा० ६ । ३ । ८४ । इति सभावः । समानचित्ताः, एकमनस्काः । शृणुत । श्रु,

(श्रृणुत) सुनो। (सर्वेभ्यः वः) तुम सब को मैं (एतम्) इसे [अपने को] (परि ददामि) सौंपता हूं (एनम्) इस पुरुष के लिये [मेरे लिये] (स्वस्ति) कल्याण और मङ्गल (जरसे) स्तुति के अर्थ (वहाथ) तुम पहुंचाओ ॥ २ ॥

भावार्थ—जो बुद्धिमान् मनुष्य शास्त्रवित् विजयशील वृद्ध, युवा और ब्रह्मचारियों की सेवा में आत्म समर्पण करता है वह पुरुष उन महात्माओं के सत्संग, उपदेश और सत्कर्मों से लाभ उठाकर संसार में अपनी स्तुति फैलाता है॥ २ ॥

टिप्पणी—(जरसे) शब्द का अर्थ "स्तुति के लिये" निघंटु ३। १४। निरु० १०। ८। और सायणभाष्य ऋग्वेद १। २। २। के प्रमाण से किया है। यहां पर सायणभाष्य में "जरायै, जराप्राप्तिपर्यन्तम्। बुढ़ापे के लिये, बुढ़ापे के आने तक" जो अर्थ है वह असंगत है, वेद में जीवन को स्वस्थ और स्तुति-योग्य रखने का उपदेश है। देखो—अथर्ववेद, का० ६ सू० १२० म० ३ ॥

यत्रा॑ सु॒हार्दः॑ सु॒कृतो॒ मद॑न्ति वि॒हाय॒ रोगं॑ त॒न्व१ः॒ स्वायाः॑।
अश्लो॑णा॒ अङ्गै॒रह्रु॑ताः स्व॒र्गे तत्र॑ पश्येम पि॒तरौ॑ च पु॒त्रान्॥

जहां पर पुण्यात्मा मित्र अपने शरीर का रोग छोड़ कर आनन्द भोगते हैं,

---

श्रवणे—लोट्। आकर्णयत। **इदम्**। वक्ष्यमाणम्। **उक्तम्**। वच कथने-क्त। वचिस्वपियजादी०। पा० ६। १। १५। इति संप्रसारणम्। वचनम्। **वः**। युष्मभ्यम्। **परिददामि**। रक्षणार्थं दानं परिदानं समर्पणम्। रक्षितुं प्रयच्छामि, समर्पयामि। **एतम्**। आत्मानम्। **स्वस्ति**। सावसेः। उ० ४। १८१। सु+अस सत्तायां-ति। आशीर्वादम्, क्षेमम्। **एनम्**। माम् प्रति। **जरसे**। जरतेस्तौतीत्यर्चतिकर्माणौ— निघ० ३। १४। जरा स्तुतिर्जरतेस्तुतिकर्मणः। निरु०१०। ८। यथा। वाय उक्थे भिर्जरन्ते त्वामच्छा जरितारः। ऋ० १। २। २। जरन्ते=स्तुवन्ति, जरितारः=स्तोतारः, इति सायणस्तद्भाष्ये। जॄ स्तुतौ, नैरुक्तधातुः। यद्वा। गॄ शब्दे=स्तुतौ असुन्, गकारस्य जकारः। स्तुत्यर्थम्। प्रशंसाप्राप्त्यर्थम्। **वहाथ**। वह प्रापणे-लेट्। द्विकर्मकः। यूयं प्रापयत ॥

वहाँ पर स्वर्ग में विना लंगड़े हुये और अंगों से विना टेढ़े हुये हम माता पिता और पुत्रों को देखते रहें।

और देखो यजुर्वेद २५ । २१ । तथा ऋग्वेद १ । ८९ । ८ ।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥

हे विद्वान् जनो! कानों से हम शुभ सुनते रहें, हे पूज्य महात्माओ! आंखों से हम शुभ देखते रहें। दृढ़ अङ्गों और शरीरों से स्तुति करते हुये हम लोग वह जीवन पावें जो विद्वानों का हितकारक है॥

ये दे॑वा दि॒वि ष्ठ ये पृ॑थि॒व्यां ये अ॒न्तरि॑क्ष॒ ओष॑धीषु प॒शुष्व॒प्स्व॑१॒न्तः। ते कृ॑णुत ज॒रस॒मायु॑र॒स्मै श॒तम॒न्यान् परि॑ वृणक्तु मृ॒त्यून्॥ ३ ॥

ये। दे॒वाः। दि॒वि। स्थ। ये। पृ॒थि॒व्याम्। ये। अ॒न्तरि॑क्षे। ओष॑धीषु। प॒शुषु॑। अ॒प्-सु। अ॒न्तः। ते। कृ॒णु॒त। ज॒रस॑म्। आयुः॑। अ॒स्मै। श॒तम्। अ॒न्यान्। परि॑। वृ॒ण॒क्तु। मृ॒त्यून्॥३॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विद्वान् महात्माओ! (ये) जो तुम (दिवि) सूर्य लोक में, (ये) जो (पृथिव्याम्) पृथिवी में, (ये) जो (अन्तरिक्षे) आकाश वा मध्यलोक में, (ओषधिषु) ओषधियों में, (पशुषु) सब जीवों में और (अप्सु) व्यापक सूक्ष्म तन्मात्राओं वा जल में (अन्तः) भीतर (स्थ) वर्तमान हो। (ते) वह तुम (अस्मै) इस पुरुष के लिये (जरसम्) कीर्तियुक्त

३—देवाः। हे दिव्यगुणाः। दिव्यगुणयुक्ता विद्वांसः। दिवि। दिवु क्रीड़ाविजिगीषाकान्तिगत्यादिषु-क्विप्। प्रकाशे सूर्यसमानलोके। स्थ। अस भुवि लट्। भवथ, वर्तध्वे। पृथिव्याम्। १। २। १। विस्तृतायां प्रख्यातायां वा भूमौ। अन्तरिक्षे। अन्तः सूर्यपृथिव्योर्मध्ये ईक्ष्यते। अन्तर्+ईक्ष दर्शने-कर्मणि

(आयुः) जीवन (कृणुत) करो, [यह पुरुष] (अन्यान्) दूसरे प्रकार के (शतम्) सौ (मृत्यून) मृत्युओं को (परि वृणक्तु) हटावे ॥

भावार्थ—जो विद्वान् सूर्य विद्या, भूमि विद्या, वायुविद्या, ओषधि अर्थात् अन्न, वृक्ष, जड़ी बूटी आदि की विद्या, पशु अर्थात् सब जीवों की पालन विद्या और जल विद्या वा सूक्ष्म तन्मात्राओं की विद्या में निपुण हैं उनके सत्संग और उनके कर्मों के विचार से शिक्षा ग्रहण करके और पदार्थों के गुण,उपकार और सेवन को यथार्थ समझ कर मनुष्य अपना सब जीवन शुभ कर्मों में व्यतीत करें, और दुराचरणों में अपने जन्म को न गमाकर सुफल करें ॥ ३ ॥

टिप्पणी—(पशु) शब्द जीववाची है, देखो अथर्व० २ । ३४ । १ ।

घञ् । यद्वा । अन्तर्मध्ये ऋक्षाणि नक्षत्राणि यस्य तत् अन्तरिक्षम् । पृषोदरादित्वात् ईकारस्य ह्रस्वः, ऋकारस्य इकारः । अन्तरिक्षं कस्मादन्तरा क्षान्तं भवत्यन्तरेमे इति वा शरीरेष्वन्तरक्षयमिति वा-इति. भगवान् यास्कः, निरु० २ । १० । सर्वमध्ये दृश्यमाने । आकाशे । **ओषधीषु** । १ । २३ । १ ओषधि-ङीप् ओषध्यः फल. पाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः । इति मनुः, १ । ४६ ॥ इति कदलीव्रीहियवफल-धान्यादिषु । **पशुषु** । अर्जिदृशिकम्यमिपसीति० । उ० १ । २७ । इति दृशिर् प्रेक्षणे-कु, पश्यादेशः । पश्यन्ति दृश्यन्ते वा ते पशवः । प्राणिमात्रेषु, सर्वजीवेषु । **अप्सु** । १ । ४ । ३ । आप्लृ-क्विप् । व्यापिकासु सूक्ष्मतन्मात्रासु । यथा श्रीमद्दयानन्दभाष्ये यजुः । ३७ । २५, २६ । जलेषु वा । **अन्तः** । मध्ये । ते । सर्वे देवा यूयम् । **कृणुत** । कुरुत । **जरसम्** । म० २ । जरस् स्तुतिः । अर्श आदिभ्यो ऽच् । पा० ५ । २ । १२७ । इति मत्वर्थे अच् । स्तुतियुक्तम् । प्रशंसनीयम् । **आयुः** । एतेर्णिच्च । उ० २ । ११८ । इति इण् गतौ-उसि । ईयते प्राप्यते यत्तद् आयुः । जीवनम् , जीवितकालः । **अस्मै** । आत्मने, मह्यम् । **शतम्** । अपरिमितान् । **अन्यान्** । स्तुत्यजीवनाद् भिन्नान् मृत्यून **परि+वृणक्तु** । वृजी वर्जने-लोट् । अयम् उपासकः परिवर्जयतु । **मृत्यून्** । भुजिमृङ्भ्यां युक्त्युकौ । उ० ३ । २१ । इति मृङ् प्राणत्यागे-त्युक् । प्राणवियोगान्, मरणानि । अत्र पश्यत अ० २ । २८ । १ । तथा ८ । २ । २७ ॥

य ईशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम्।

जो पशुपति चौपाये और दोपाये पशुओं [अर्थात् जीवों] का राजा है।

(अप्सु) व्यापक सूक्ष्म तन्मात्राओं में। देखो श्रीमद्दयानन्द भाष्य, यजुर्वेद ३७। २५ और २६॥

येषां प्रयाजा उत वानुयाजा हुतभागा अहुतादश्च देवाः। येषां वः पञ्च प्रदिशो विभक्तास्तान् वो अस्मै सत्रसदः कृणोमि ॥ ४ ॥

येषाम्। प्र-याजाः। उत। वा। अनु-याजाः। हुत-भागाः। अहुत-अदः। च। देवाः। येषाम्। वः। पञ्च। प्र-दिशः। वि-भक्ताः। तान्। वः। अस्मै। सत्र-सदः। कृणोमि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(येषाम्) जिन [तुम्हारे] (प्रयाजाः) उत्तम पूजनीय कर्म (उत वा) और (अनुयाजाः) अनुकूल पूजनीय कर्म, और (हुतभागाः) देने लेने के विभाग (च) और (अहुतादः) यज्ञ वा दान से बचे पदार्थों के आहार (देवाः) विजय करने हारे [वा प्रकाश वाले] हैं। और (येषाम् वः) जिन तुम्हारे (पञ्च) विस्तीर्ण [वा पांच] (प्रदिशः) उत्तम दान क्रियायें [वा प्रधान दिशायें] (विभक्ताः) अनेक प्रकार बटी हुयी हैं (तान् वः) उन तुम को (अस्मै) इस [पुरुष] के हित के लिये [अपने लिये] (सत्रसदः) सभासद् (कृणोमि) बनाता हूं ॥ ४ ॥

४—प्र-याजाः। अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्। पा० ३।३।१९। इति प्र+यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु—घञ्। प्रयाजानुयाजौ यज्ञाङ्गे। पा० ७।३।६२। इति कुत्वप्रतिषेधो निपात्यते। प्रकृष्टपूजनीयकर्माणि। वा। समुच्चये, पादपूरणे वा। अनु-याजाः। अनु+यज-घञ् पूर्ववत्—अनुकूलानि पूजनीयकर्माणि। हुत-भागाः। हुदानादानादनेषु-क्त। भज भागसेवयोः—भावे घञ्। हुतस्य, दत्तस्य, दानस्य गृहीतस्य वा विभागाः। अहुत-अदः। संपदादिभ्यः क्विप् वातिकम्, पा० ३। ३। ९४। अहुत+अद भक्षणे—भावे क्विप्। अदानस्य दानशेषस्य

भावार्थ—जो धर्मात्मा विद्वान् पुरुष स्वार्थ छोड़ कर दान करते हों और सब संसार के हित में दत्तचित्त हों, राजा उन महात्माओं को चुन कर अपनी राजसभा का सभासद् बनावे ॥ ४ ॥

यज्ञशेष के भोजन के विषय में भगवान् श्री कृष्ण महाराज ने कहा है। भगवद्गीता अ० ४ श्लोक ३१ ॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्। नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ १ ॥

यज्ञ [दान वा देवपूजा] से बचे अमृत का भोजन करने वाले पुरुष सनातन ब्रह्म को पाते हैं। यज्ञ न करने वाले का यह लोक नहीं है, हे कौरवों में श्रेष्ठ! फिर उसका परलोक कहां से हो ॥

सूक्तम् ३१ ॥

१—४ ॥ प्रजापतिर्देवता । १,२ अनुष्टुप् ३, ४ त्रिष्टुप् उपरिष्ठाज ज्योतिः, ११×३+८ = ४१ ॥

पुरुषार्थानन्दोपदेशः—पुरुषार्थ और आनन्द के लिये उपदेश ॥

आशानामाशापालेभ्यश्चतुर्भ्यो अमृतेभ्यः ।
इदं भूतस्याध्यक्षेभ्यो विधेम हविषा वयम् ॥ १ ॥

भोजनानि । धान्यधनादीनि । **देवाः** । १ । ७ । १ विजयिनः । प्रकाशमयाः । **पञ्च** । सप्यशूभ्यां तुट् च । उ० १ । १५७ । इति पचि व्यक्तिकारे विस्तारे च कनिन् । विस्तीर्णाः, व्यक्ताः प्रसिद्धाः । संख्यावाची वा । **प्र-दिशः** । प्र + दिश दाने आज्ञापने च-क्विप् । प्रकृष्टा दानक्रियाः । प्राच्याद्याः सर्वा दिशाः **वि-भक्ताः** । वि + भज-क्त । ग्रामविभागाः । **अस्मै** । आत्मने, मदर्थम् । **सत्र-सदः** । गुधृवीपचिवचियमिसदिक्षदिभ्यस्त्रः । उ० ४ । १६७ । इति षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु त्रप्रत्ययः । सीदन्ति यत्रेति सत्रं सदनं यज्ञः । सभास्थानम् । पुनः । सत्सूद्विषद्रुह० । पा० ३ । २ । ६१ । इति सत्रोपपदे तस्मादेव धातोः-कर्तरि क्विप् । सभासदः, सभ्यान् । **कृणोमि** । कृवि हिंसाकरणयोः-लट् । करोमि ॥

आशानाम् । आशा-पालेभ्यः । चतुः-भ्यः । अमृतेभ्यः ।
इदम् । भूतस्य । अधि-अक्षेभ्यः । विधेम । हविषा । वयम् ॥१॥

भाषार्थ—(इदम्) इस समय (वयम्) हम (आशानाम्) सब दिशाओं के मध्य (आशापालेभ्यः) आशाओं के पालने हारे, (चतुर्भ्यः) प्रार्थना के योग्य [अथवा, चार धर्म अर्थ काम और मोक्ष] (अमृतेभ्यः) अमर रूप वाले, (भूतस्य) संसार के (अध्यक्षेभ्यः) प्रधानों की (हविषा) भक्ति से (विधेम) सेवा करें ॥ १ ॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को उत्तम गुण वाले पुरुषों अथवा चतुर्वर्ग, धर्म, अर्थ, काम [ईश्वर में प्रेम] और मोक्ष की, प्राप्ति के लिये सदा पूर्ण पुरुषार्थ करना चाहिये। इन के ही पाने से मनुष्य की सब आशायें वा कामनायें पूर्ण होती हैं ॥ १ ॥

य आशानामाशापालाश्चत्वार स्थन देवाः ।
ते नो निर्ऋत्याः पाशेभ्यो मुञ्चतांहसोअंहसः ॥ २ ॥

१—आशानाम् । आङ्+अशू व्याप्तौ-पचाद्यच्, टाप् । दिशानां मध्ये । आशा-पालेभ्यः । कर्मण्यण् । पा० ३ । २ । १ । इति आशा+पल वा पाल, रक्षणे-अण् । दिशानाम् आकांक्षाणां वा पालकेभ्यः । लोकपालेभ्यः । चतुः-भ्यः । चतेरुरन् । उ० ५ । ५८ । इति चत याचने-उरन् । याचनीयेभ्यः, कमनीयेभ्यः । अथवा चतुःसंख्याकेभ्यः, धर्मार्थकाममोक्षेभ्यः । अमृतेभ्यः । मृतं मरणम् । मरणरहितेभ्यः, अमरेभ्यः, महायशस्विभ्यः । इदम् । इदानीम् । भूतस्य । लोकस्य । अधि-अक्षेभ्यः । अध्यक्ष्णोति समन्ताद् व्याप्नोति । अधि+अक्ष व्याप्तौ संहतौ-अच् । व्यापकेभ्यः । अधिपतिभ्यः । विधेम । ।१ १२ । २ । परिचरेम (विधेम) इत्यस्य प्रयोगे बहुधा कर्मणि चतुर्थी दृश्यते, यथा कस्मै देवाय हविषा विधेम । य० १३ । ४ । हविषा । १ । १२ । २ । आत्मदानेन, भक्त्या ॥

ये । आशानाम् । आशा-पालाः । चत्वारः । स्थन । देवाः ।
ते । नः । निः-ऋत्याः । पाशेभ्यः । मुञ्चत । अंहसः-अंहसः ॥२॥

भाषार्थ—(देवाः) हे प्रकाशमय देवताओ ! (ये) जो तुम (आशानाम्) सब दिशाओं के मध्य (चत्वारः) प्रार्थना के योग्य [अथवा चार] (आशापालाः) आशाओं के रक्षक (स्थन) वर्तमान हो , (ते) वे तुम (नः) हमें (निर्ऋत्याः) अलक्ष्मी वा महामारी के (पाशेभ्यः) फंदों से और (अंहसो-अंहसः) प्रत्येक पाप से (मुञ्चत) छुड़ाओ ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को प्रयत्न पूर्वक सब उत्तम पदार्थों [अथवा चारों पदार्थ , धर्म , अर्थ , काम और मोक्ष] को प्राप्त कर के सब क्लेशों का नाश करना चाहिये ॥ २ ॥

अस्रामस्त्वा हविषा यजाम्यश्लोणस्त्वा घृतेन जुहोमि । य आशानामाशापालस्तुरीयो देवः स नः सुभूतमेह वक्षत् ॥ ३ ॥

२—आशानाम् । म० १ । दिशानां मध्ये । आशा-पालाः । म० १ । आक्रान्तानाम् पालकाः , लोकपालाः । चत्वारः । म० १ । याचनीयाः प्रार्थनीयाः । चतुःसंख्यका धर्मार्थकाममोक्षा वा । स्थन । तप्तनप्तनथनाश्च । पा० ७ । १ । ४५ । इति अस भुवि लोटि मध्यमपुरुषबहुवचने थनादेशः । यूयं स्त भवत । देवाः । हे दिव्यगुणाः पुरुषाः । निःऋत्याः । निः+ऋ हिंसने क्तिन् । नितराम् ऋतिर्घृणा अशुभं वा यस्याः सा निर्ऋतिः, तस्याः । अलक्ष्म्याः । उपद्रवस्य । पाशेभ्यः । पश बाधे, ग्रन्थे-घञ् । बन्धनेभ्यः । मुञ्चत । मुच्लृ मोक्षे । मोचयत । अंहसः-अंहसः । अमेर्हुक् च । उ० ४ । २१३ । इति अम रोगे, पीड़ने- असुन् , हुक् आगमः । नित्यवीप्सयोः, पा० ८ । १ । ४ । इति द्विर्वचनम् । सर्वस्माद् दुःखात् , पापात् ॥

अस्रा॑मः । त्वा॒ । ह॒विषा॑ । य॒जा॒मि॒ । अश्लो॑णः । त्वा॒ । घृ॒तेन॑ जु॒हो॒मि॒ । यः । आशा॑नाम् । आ॒शा॒-पा॒लः । तु॒रीयः॑ । दे॒वः । सः । नः॒ । सु॒-भू॒तम् ॥ आ । इ॒ह । व॒क्ष॒त् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (अस्रामः) श्रम रहित मैं (त्वा) तुझ को (हविषा) भक्ति से (यजामि) पूजता हूं , (अश्लोणः) लंगड़ा न होता हुआ मैं (त्वा) तुझ को (घृतेन) [ज्ञान के] प्रकाश से [अथवा घृत से] (जुहोमि) स्वीकार करता हूं । (यः) जो (आशानाम्) सब दिशाओं में (आशापालः) आशाओं को पालन करने वाला , (तुरीयः) बड़ा वेगवान् परमेश्वर [अथवा, चौथा मोक्ष] (देवः) प्रकाशमय है , (सः) वह (नः) हमारे लिये (इह) यहां पर (सुभूतम्) उत्तम ऐश्वर्य (आ+वक्षत्) पहुंचावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य निरालस्य होकर परमेश्वर की आज्ञा का पालन करते हैं अथवा जो घृत से अग्नि के समान प्रतापी होते हैं वे शीघ्र ही जगदीश्वर का दर्शन करके [अथवा धर्म , अर्थ , और काम की सिद्धि से पाये हुये चौथे मोक्ष के लाभ से] महासमर्थ होजाते हैं ॥ ३ ॥

३—अस्रामः । श्रमु तपःखेदयोः-घञ् । शस्य सकारः । श्रमरहितः , खेदरहितः । त्वा । त्वाम् , परमेश्वरम् । हविषा । म० १ । भक्त्या । यजामि । पूजयामि । अश्लोणः । श्रोण संघाते=राशीकरणे—अच् । रस्य लः । अश्रोणः, अपङ्गः । घृतेन । अञ्चिघृसिभ्यः क्तः । उ० ३ । ८९ । इति घृ भासे—भावे क्त । दीप्तया , सज्ज्ञानप्रकाशेन । आज्येन । जुहोमि । १ । १५ । १ । अहम् आददे , स्वीकरोमि । यः । आशापालः । आशानाम् । म० १ । दिशानाम् । आशा-पालः । म० १ । इच्छापालकः । तुरीयः । तुरो वेगः , अस्त्यर्थे छ प्रत्ययः । तुरवान् , वेगवान् परमेश्वरः [अथवा । चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च । वार्तिकम् । पा० ५ । २ । ५१ । इति चतुर—छ , चकारलोपश्चः । चतुर्थः । चतुर्णां पूरको । मोक्षः-इति] सु-भूतम् । सु+भू सत्तायां भावे क्त । सुभूतिम् । सु सुष्ठु प्रभूतं धनम् , आ—समन्तात् । इह । अत्र ।

सायणभाष्य में (अस्रामः) के स्थान में [अश्रामः] और (अश्लोणः) के स्थान में [अश्रोणः] हैं वे अधिक शुद्ध जान पड़ते हैं ॥

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः । विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम् ॥ ४ ॥

स्वस्ति । मात्रे । उत । पित्रे । नः । अस्तु । स्वस्ति । गोभ्यः । जगते । पुरुषेभ्यः । विश्वम् । सु-भूतम् । सु-विदत्रम् । नः । अस्तु । ज्योक् । एव । दृशेम । सूर्यम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(नः) हमारी (मात्रे) माता के लिये (उत) और (पित्रे) पिता के लिये (स्वस्ति) आनन्द (अस्तु) होवे, और (गोभ्यः) गौओं के लिये (पुरुषेभ्यः) पुरुषों के लिये और (जगते) जगत् के लिये (स्वस्ति) आनन्द होवे । (विश्वम्) संपूर्ण (सुभूतम्) उत्तम ऐश्वर्य और (सुविदत्रम्)

वक्षत् । वह प्रापणे—लेटि अडागमः, द्विकर्मकः । आवहेत्, प्रापयेत्, आहृत्य दद्यात् ।

४—**स्वस्ति** । १ । ३० । २ । क्षेमम्, मङ्गलम् । **मात्रे** । १ । २ । १ माननीयायै जनन्यै । **पित्रे** । १ । २ । १ । पालकाय, जनकाय । **गोभ्यः** । १ । २ । ३ । गन्तव्याभ्यः प्रापणीयाभ्यः धेनुभ्यः, गवादिपशुभ्यः । **जगते** । वर्तमाने पृषद्-बृहन्महज् जगच् छतृवच्च । उ० २ । ८४ । इति गम्लृ—अति । निपातितश्च । गतिशीलाय ससांराय । **पुरुषेभ्यः** । पुरः कुषन् । उ० ४ । ७४ । पुर अग्रगत्याम्—कुषन् । पुरति अग्रे गच्छतीति । पुत्रभृत्यादिमनुष्येभ्यः । **विश्वम्** । सर्वम् । **सु-भूतम्** । म० ३ । प्रभूतमैश्वर्यम् । **सुविदत्रम्** । सुविदेः कत्रन् । उ० ३ । १०८ । इति सु+विद ज्ञाने, विद्लृ लाभे वा—कत्रन् । यास्कस्तु द्वेधा व्युत्पादयामास । सुविदत्रं धनं भवति विन्दतेर्वैकोपसर्गाद् ददातेर्वा स्याद्

उत्तम धान वा कुल (नः) हमारे लिये (अस्तु) हो, (ज्योक्) बहुत काल तक (सूर्यम्) सूर्य को (एव) ही (दृशेम) हम देखते रहें ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य माता पिता आदि अपने कुटुम्बियों और अन्य माननीय पुरुषों और गौ आदि पशुओं से लेकर सब जीवों और संसार के साथ उपकार करते हैं, वे पुरुषार्थी सब प्रकार का उत्तम धन, उत्तम ज्ञान और उत्तम कुल पाते और वही सूर्य जैसे प्रकाश मान होकर दीर्घ आयु अर्थात् बड़े नाम को भोगते हैं ॥ ४ ॥

सूक्तम् ३२ ॥

१—४ ॥ ब्रह्म देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मविचारोपदेशः—ब्रह्म विचार का उपदेश ॥

इदं जनासो विदथ महद् ब्रह्म वदिष्यति ।
न तत् पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरुधः ॥१॥

इदम् । जनासः । विदथ । महत् । ब्रह्म । वदिष्यति । न । तत् । पृथिव्याम् । नो इति । दिवि । येन । प्राणन्ति । वीरुधः ॥१॥

भाषार्थ—(जनासः) हे मनुष्यो ! (इदम्) इस बात को (विदथ) तुम जानते हो, वह [ब्रह्मज्ञानी] (महत्) पूजनीय (ब्रह्म) परम ब्रह्म का (वदिष्यति) कथन करेगा । (तत्) वह ब्रह्म (न) न तो (पृथिव्याम्) पृथिवी में (नो) और न

ड् गु पसर्गात्–निरु० ६।७। तथा । सुविदत्रः कल्याणविद्यः–निरु० ६ । १४ । शोभनं ज्ञानं कुटुम्बं वा । ज्योक् । १। ८। ३। चिरकालम् । दृशेम । दृशिर प्रेक्षणे–आशीर्लिङ् । वयं पश्येम । सूर्यम् । १ । ३ । ५ । आदित्यम् । भानुप्रकाशम् ॥

१—इदम् । वक्ष्यमाणम् । जनासः । १ । ८ । १ । आज्जसेरसुक् । पा० ७ । १ । ५० । इति जसि असुक । हे जनाः, विद्वांसः । विदथ । विद ज्ञाने अदादिः–, लट मध्यमबहुवचनं छन्दसि शः । यूयं वित्थ, जानीथ । महत् ।

(दिवि) सूर्य्य लोक में है (येन) जिस के सहारे से (वीरुधः) यह उगती हुयीं जड़ी बूटी [लता रूप सृष्ट के पदार्थ] (प्राणन्ति) श्वास लेती हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—यद्यपि वह सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् परब्रह्म भूमि वा 'सूर्य्य' आदि किसी विशेष स्थान में वर्तमान नहीं है तो भी वह अपनी सत्ता मात्र से ओषधि अन्न आदि सब सृष्टि का नियम पूर्वक प्राणदाता है। ब्रह्मज्ञानी लोग उस ब्रह्म का उपदेश करते हैं ॥ १ ॥

केनोपनिषत् में वर्णन है, खंड् १ मन्त्र ३।

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे ॥ १ ॥

न वहां आंख जाती है, न वाणी जाती है, न मन, हम न जानते हैं न पहिचानते हैं कैसे वह इस जगत का अनुशासन करता है। वह जाने हुये से भिन्न है और न जाने हुये से ऊपर है। ऐसा हमने पूर्वजों से सुना है, जिन्हों ने हमें उसकी शिक्षा दी थी ॥

१। १०। ४। पूजनीयम् ब्रह्म। १। ७। ४। परब्रह्म, परमात्मानम्, परमकारणम्। वदिष्यति। वद वाक्ये—लृट्। कथयिष्यति। न। निषेधे। तत्। ब्रह्म। पृथिव्याम्। १। २। १। प्रख्यातायां भूमौ। नो इति। न- उ। नैव। दिवि। १। ३०। ३। द्युलोके, सूर्यमण्डले। येन। ब्रह्मणा। प्राणन्ति। प्र+अन जीवने, अदादिः। जीवन्ति, श्वसन्ति। वीरुधः। विशेषेण रुणद्धि वृक्षानन्यान् सा वीरुत्। वि+रुध आवरणे-क्विप्, दीर्घश्च। अथवा। वि+रुह प्रादुर्भावे-क्विप्। न्यङ्क्वादीनां च पा० ७। ३। ५३। इति हस्य धः। विरोहणशीलाः। विस्तृता लतादयः। लतादिवद् विरोहिताः सृष्टिपदार्थाः ॥

और भी केनोपनिषत् का वचन है, ख० १ म० ८ ॥

यत् प्राणे न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ २ ॥

जो प्राण द्वारा नहीं श्वास लेता है। जिस करके प्राण चलाया जाता है। उस को ही तू ब्रह्म जान, यह वह नहीं है जिसके पास वे बैठते हैं ॥

अन्तरिक्ष आसां स्थाम श्रान्तसदामिव ।
आस्थानमस्य भूतस्य विदुष्टद् वेधसो न वा ॥२॥

अन्तरिक्षे । आसाम् । स्थाम । श्रान्तसदाम्-इव ।
आ-स्थानम् । अस्य । भूतस्य । विदुः । तत् । वेधसः । न । वा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अन्तरिक्षे) सब के भीतर दिखाई देने हारे आकाश रूप परमेश्वर में (आसाम्) इनका [लतारूप सृष्टियों का] (स्थाम) ठहराव है (श्रान्तसदाम् इव) जैसे थक कर बैठे हुये यात्रियों का पड़ाव। (वेधसः) बुद्धिमान लोग (तत्) उस ब्रह्म को (अस्य भूतस्य) इस संसार का (आस्थानम्) आश्रय (विदुः) जानते हैं, (वा) अथवा (न) नहीं [जानते हैं] ॥२॥

भावार्थ—सूर्य आदि असंख्य लोक उसी परमब्रह्म में ठहरे हैं, वही समस्त जगत् का केन्द्र है। इस बात को विद्वान् लोग विधि और निषेध रूप

२—अन्तरिक्षे । १।३०।३। सर्वमध्ये दृश्यमाने परमेश्वरे। आसाम् । वीरुधाम् । म० १ । विरोहणशीलानां पदार्थानाम् । स्थाम । सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४४ । ष्ठा गतिनिवृत्तौ—मनिन् । स्थानं । स्थितिः । श्रान्त-सदाम् । श्रमु तपःखेदयोः-भावे क्त+षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु-क्विप् । श्रमेण मार्गखेदेन स्थितानाम् । आ-स्थानम् । आ+ष्ठा—ल्युट् । स्थानम् । आश्रयम् । अस्य । परिदृश्यमानस्य । भूतस्य । लोकस्य ; जगतः । विदुः । विद ज्ञाने—लट् । विदन्ति जानन्ति । तत् । कारणभूतं ब्रह्म । वेधसः । १ । ११ । १ । मेधाविनः, विद्वांसः । न । निषेधे । वा । अथवा ॥

विचार से निश्चित करते हैं. जैसे ब्रह्म जड़ नहीं है किन्तु चैतन्य है, इत्यादि, अथवा जितना अधिक ब्रह्मज्ञान होता जाता है उतना ही वह अनन्त, ब्रह्म अगम्य और अति अधिक जान पड़ता है इससे वह ब्रह्मज्ञानी अपने को अज्ञानी समझते हैं ॥ २ ॥

यद् रोदसी रेजमाने भूमिश्च निरतक्षतम् ।
आर्द्रं तदद्य सर्वदा समुद्रस्येव स्रोत्याः ॥ ३ ॥

यत् । रोदसी (इति) । रेजमाने इति । भूमिः । च । निः-अतक्षतम् ।
आर्द्रम् । तत् । अद्य । सर्वदा । समुद्रस्य-इव । स्रोत्याः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(रोदसी = सि) हे सूर्य (च) और (भूमिः) भूमि । (रेजमाने) कांपते हुये तुम दोनों ने (यत्) जिस [रस] को (निरतक्षम्) उत्पन्न किया है, (तत्) वह (आर्द्रम्) रस (अद्य) आज (सर्वदा) सदा से (समुद्रस्य) सींचनेवाले समुद्र के (स्रोत्याः) प्रवाहों के (इव) समान वर्तमान है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस रस वा उत्पादन शक्ति को, परमेश्वर ने सूर्य और भूमि को (कंपमान) वश में रख के, सृष्टि के आदि में उत्पन्न किया था वह शक्ति

३—यत् । आर्द्रम् । रोदसी । एकवचनं स्त्री । सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८९ । इति रुध आवरणे—असुन् । षिद्गौरादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ४१ । इति ङीष् । द्युलोको भूमिर्वा । सम्बोधने दीर्घश्छान्दसः । हे रोदसि । सूर्यलोक । रेजमाने । रेजृ कम्पने—शानच् । भ्यसते रेजत इति भयवेपनयोः—निरु० ३ । २१ । उभे कम्पमाने । भूमिः । १ । ११ । २ । भवन्ति पदार्था अस्यामिति । पृथिवी । निः-अतक्षतम् । तक्षू तनूकरणे—लङ् । युवामुदपादयतम् । आर्द्रम् । अर्देर्दीर्घश्च । उ० २ । १८ । इति अर्द वधे, गतौ—रक्, दीर्घश्च । क्लेदनं रसत्वम् उत्पादनसामर्थ्यम् । तत् । प्रसिद्धम् । अद्य । १ । १ । १ । वर्तमाने दिने । समुद्रस्य । १ । ३ । ८ । समुन्दनशीलस्य सागरस्य, अर्णवस्य । स्रोत्याः । पुंलि० । स्रोतसो विभाषा ड्यड्यौ । पा० ४ । ४ । ११३ । इति स्रोतस्—ड्य । डित्वात् टि लोपः । स्रोतसि भवाः, जलप्रवाहाः ॥

मेघ आदि रस रूप से सदा संसार में सृष्टि की उत्पत्ति और स्थिति का कारण है ॥ ३ ॥

टिप्पणी—सायणभाष्य में (रोदसी इति) यह पद पाठ और उसका अर्थ [हे द्यावापृथिव्यौ] हे सूर्य और भूमि अशुद्ध है । यहां (रोदसी) एक वचन और केवल सूर्य वाची है क्योंकि (भूमिः च) [और भूमि] यह पद मन्त्र में वर्तमान हैं । फिर (भूमिः च) का भी अर्थ [भूमि और द्युलोक] उक्त भाष्य में है ॥

विश्वमन्यामभीवार तदन्यस्यामधि श्रितम् ।
दिवे च विश्ववेदसे पृथिव्यै चाकरं नमः ॥ ४ ॥

विश्वम् । अन्याम् । अभि-वार । तत् । अन्यस्याम् । अधि । श्रितम् । दिवे । च । विश्व-वेदसे । पृथिव्यै । च । अकरम् । नमः ॥४॥

भाषार्थ—(विश्वम्) उस सर्व व्यापक [रस] ने (अन्याम्) एक [सूर्य वा भूमि] को (अभि) चारों ओर से (वार=ववार) घेर लिया, (तत्) वही [रस] (अन्यस्याम्) दूसरी में (अधिश्रितम्) आश्रित हुआ । (च) और (दिवे) सूर्य रूप वा आकाश रूप (च) और (पृथिव्यै) पृथिवी रूप (विश्ववेदसे) सब के जानने वाले [वा सब धनों के रखने वाले, वा सब में विद्यमान ब्रह्म] को (नमः) नमस्कार (अकरम्) मैंने किया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—सृष्टि का कारण रस अर्थात् जल, सूर्य की किरणों से आकाश

४—**विश्वम्** । १ । १० । २ । सर्वं व्याप्तं आर्द्रम् । म० ३ । **अन्याम्** । एकाम् द्यां भूमिं वा । **अभि वार** । वृञ् वरणे-लिट् । वकार लोपश्छान्दसः । सर्वतो ववार, आच्छादितं चकार । **तत्** । आर्द्रम् । **अन्यस्याम्** । अपरस्याम् । **अधि+श्रितम्** । आश्रितम् । **दिवे** । १ । ३० । ३ । आकाशाय । तद्रूपाय । **विश्व-वेदसे** । विद्लृ लाभे, वा विद् ज्ञाने सत्तायां च-असुन् ॥ सर्वधनयुक्तायै, सर्वाधारभूतायै । **पृथिव्यै** । १ । २ । १ । विस्तीर्णायै भूम्यै, तद्रूपाय परमेश्वराय । **अकरम्** । डुकृञ् करणे-लुङ् । अहं कृतवानस्मि ॥

में जाकर फिर पृथिवी में प्रविष्ट होता, वही फिर पृथिवी से आकाश में जाता और पृथिवी पर आता है। इस प्रकार उन दोनों का परस्पर आकर्षण, जगत् को उपकारी होता है। विद्वान् लोग इसी प्रकार जगदीश्वर की अनन्त शक्तियों को विचार कर सत्कार पूर्वक उपकार लेकर आनन्द भोगते हैं ॥ ४ ॥

यजुर्वेद म० ३ । अ० ५ । में इस प्रकार वर्णन है—

भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा ॥

सब का आधार, सब में व्यापक, सुखस्वरूप परमेश्वर बहुत्व के कारण [सब लोकों के धारण करने से] आकाश के समान और अपने फैलाव से पृथिवी के समान है ॥

सूक्तम् ३३ ॥

१—४ ॥ आपो देवताः । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सूक्ष्मतन्मात्राविचारः—सूक्ष्म तन्मात्राओं का विचार ॥

हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका यासु जातः सविता यास्वग्निः । या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ १ ॥

हिरण्य-वर्णाः । शुचयः । पावकाः । यासु । जातः । सविता । यासु । अग्निः । याः । अग्निम् । गर्भम् । दधिरे । सु-वर्णाः । ताः । नः । आपः । शम् । स्योनाः । भवन्तु ॥ १ ॥

भावार्थ—[जो] (हिरण्यवर्णाः) व्यापनशील वा कमनीय रूप वाली (शुचयः) निर्मल स्वभाव वाली और (पावकाः) शुद्धि की जताने वाली

१—हिरण्य-वर्णाः । हर्यतेः कन्यन् हिर् च । उ० ५ । ४४ । इति हर्य गति-कान्त्योः—कन्यन्, हिर् आदेशश्च, नित्वाद् आद्युदात्तः । कृवृजृसिद्रुपन्यनिस्वपिभ्यो नित् । उ० ३ । १० । इति वृञ् वरणे—न, स च नित् । बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्व-

हैं, (यासु) जिनमें (सविता) चलाने वा उत्पन्न करने हारा सूर्य और (यासु) जिन में (अग्निः) [पार्थिव] अग्नि (जातः) उत्पन्न हुई । (याः) जिन (सुवर्णाः) सुन्दर रूप वाली (आपः) तन्मात्राओं ने (अग्निम्) [बिजुली रूप] अग्नि को (गर्भम्) गर्भ के समान (दधिरे) धारण किया था, (ताः) वे [तन्मात्रायें] (नः) हमारे लिये (शम्) शुभ करने हारी और (स्योनाः) सुख देने वाली (भवन्तु) होवें ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे परमात्मा ने कामना के और खोजने के योग्य तन्मात्राओं के संयोग वियोग से अग्नि, सूर्य, और बिजुली, इन तीन तेजधारी पदार्थ आदि सब संसार को उत्पन्न किया है, उसी प्रकार मनुष्यों को शुभ गुणों के ग्रहण और दुर्गुणों के त्याग से आपस में उपकारी होना चाहिये ॥ १ ॥

१-(आपः)=व्यापक तन्मात्रायें-श्रीमद् दयानन्द भाष्य,यजुर्वेद २७ । २५ ॥

२-(आपः) के विषय में सूक्त ४, ५ और ६ और सूक्त ४ में मनु महाराज का श्लोक भी देखें ॥

पदम् । पा० ६ । २ । १ । इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेन आद्युदात्तः । कमनीयरूप-युक्ताः, गतिशीलरूपयुक्ताः । प्रकाशस्वरूपाः । **शुचयः** । इगुपधात् कित् । उ० ४ । १२० । इति शुचिर् शौचे=शुद्धौ-इन्, स च कित् । शुद्धस्वभावाः । **पावकाः** । पूञ् शोधे-घञ् । आतोऽनुपसर्गे कः । पा०३ । २ । ३ । इति कै शब्दे-कः । उपपदमतिङ् । पा०२ । २ । १६ । इति समासः । टाप् । यद्वा । पूञ् ण्वुल् । टाप् । पावकादीनां छन्दसीति । वा० पा० ७ । ३ । ४५ । इत्वं निषिद्धम् । पावस्य शुद्धव्यवहारस्य शब्दयित्र्यः, ज्ञापयित्र्यः । पावयित्र्यः, शोधयित्र्यः । **यासु** । अप्सु । **जातः** । जनी प्रादुर्भावे-क्त । प्रादुर्भूतः,उत्पन्नः । **सविता** । १ । १८ । २ । सूर्यः । **अग्निः** । १ । ६ । २ । पार्थिवाग्निः । **अग्निम्** । वैद्युताग्निम् । **गर्भम्** । १ । ११ । २ । पदार्थेषु गर्भवत् स्थितम । **दधिरे** । डुधाञ् धारण-पोषणयोः-लिट् । दधुः, स्थापयामासुः । **सु-वर्णाः** । वृञ्-न । शोभनरूपाः । **नः** । अस्मभ्यम् । **आपः** । १ । ५ । १ । व्यापिकास्तन्मात्राः-इति श्रीमद् दयानन्दभाष्ये, यजु०२७ । २५ ॥ **शम्** । १ । ३ । १ । शुभकारिण्यः । **स्योनाः** । सिवेष्टेर्यू च । उ० ३ । ६ । इति षिवु तन्तुसन्ताने—न प्रत्ययः । टिभागस्य यू इत्यादेशः । स्योनं सुखनाम, निघ० । ३ । ६ । अर्शआदिभ्योऽच् पा० ५ । २ । १२७ । इति मत्वर्थे अच् । सुखवत्यः ॥

यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अव-पश्यन् जनानाम्। या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ २ ॥

यासाम् । राजा । वरुणः । याति । मध्ये । सत्यानृते इति सत्य-अनृते । अव-पश्यन् । जनानाम् । याः । अग्निम् । गर्भम् । दधिरे । सु-वर्णाः । ताः । नः । आपः । शम् । स्योनाः । भवन्तु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यासाम्) जिन तन्मात्राओं के (मध्ये) बीच में (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ (राजा) राजा परमेश्वर (जनानाम्) सब जन्मवाले जीवों के (सत्यानृते) सत्य और असत्य को (अवपश्यन्) देखता हुआ (याति) चलता है। (याः) जिन (सुवर्णाः) सुन्दर रूप वाली (आपः) तन्मात्राओं ने (अग्निम्) बिजुली रूप अग्नि को (गर्भम्) गर्भ के समान (दधिरे) धारण किया था, (ताः) वे [तन्मात्रायें] (नः) हमारे लिये (शम्) शुभ करनेहारी और (स्योनाः) सुख देने वाली (भवन्तु) होवें ॥ २ ॥

भावार्थ—इन तन्मात्राओं का नियन्ता अर्थात् संयोजक और वियोजक (वरुण राजा) परमेश्वर है, वही सब जीवों के पुण्य पाप को देखकर यथावत् फल देता है। इनके गुणों से उपकार ले कर मनुष्यों को सुख भोगना चाहिये ॥ २ ॥

२—यासाम् । अपाम् तन्मात्राणाम्। राजा । १ । १० । १ । ईश्वरः। नियन्ता। वरुणः । १ । ३ । ३ । वृणोति सर्वं, व्रियते अन्यैरिति वरुणः । सर्ववरणीयः परमेश्वरः। याति । गच्छति । व्याप्नोति। मध्ये । अघ्न्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । इति मन ज्ञाने-यक्, नस्य धः । अन्तर्वर्त्तिनि भागे। सत्य-अनृते। सद्भ्यो हितम् । सत्-यत् । सत्यं, यथार्थं, तथ्यम् । न ऋतम् । अनृतम् असत्यम्, मिथ्याकरणम् । सत्यं च असत्यं च उभे कर्मणी । अव-पश्यन् । दृशिर-शतृ । अवलोकयन् विजानन् । जनानाम् । १ । ८ । १ । जन्मवतां लोकानाम् । अन्यद् गतम् म० १ ॥

यासां॑ दे॒वा दि॒वि कृ॒ण्वन्ति॑ भ॒क्षं या अ॒न्तरि॑क्षे ब॒हु॒धा भव॑न्ति । या अ॒ग्निं गर्भं॑ दधि॒रे सु॒वर्णा॒स्ता न॒ आपः॒ शं स्यो॒ना भ॑वन्तु ॥ ३ ॥

यासा॑म् । दे॒वाः । दि॒वि । कृ॒ण्वन्ति॑ । भ॒क्षम् । याः । अ॒न्तरि॑क्षे । ब॒हु॒-धा । भव॑न्ति । याः । अ॒ग्निम् । गर्भ॑म् । द॒धि॒रे । सु॒ वर्णाः । ताः । नः॒ । आपः॑ । शम् । स्यो॒नाः । भ॒व॒न्तु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(देवाः) सब प्रकाशमय पदार्थ (दिवि) व्यवहार के योग्य आकाश में (यासाम्) जिनका (भक्षम्) भोजन (कृण्वन्ति) करते हैं और (याः) जो [तन्मात्रायें] (अन्तरिक्षे) सब के मध्यवर्ती आकर्षण में (बहुधा) अनेक रूपों से (भवन्ति) वर्त्तमान हैं। और (याः) जिन (सुवर्णाः) सुन्दर रूप वाली (आपः) तन्मात्राओं ने (अग्निम्) [बिजुली]रूप अग्नि को (गर्भम्) गर्भ के समान (दधिरे) धारण किया था, (ताः) वो [तिन्मात्रायें] (नः) हमारे लिये (शम्) शुभ करने हारी और (स्योनाः) सुख देने वाली (भवन्तु) होवें ॥ ३ ॥

भावार्थ—अपरिमित तन्मात्रायें ईश्वर कृत परस्पर आकर्षण से संसार के (देवाः) सूर्य, अग्नि, वायु आदि सब पदार्थों के धारण और पोषण का कारण हैं। (देवाः) विद्वान् लोग इन के सूक्ष्म विचार से संसार में अनेक उपकार करके सुख पाते हैं ॥ ३ ॥

३—यासाम् । अपाम् । देवाः । १ । ७ । १ । व्यावहारिकपदार्थाः । जगप्रकाशमयाः किरणाः । दिवि । १ । ३० । ३ । व्यवहारयोग्ये आकाशे । जगति । कृण्वन्ति । कृवि हिंसाकरणयोः । कुर्वन्ति । भक्षम् । भक्ष अदने-कर्मणि घञ् । भक्ष्यम्, अन्नम्, पोषणम् । याः । आपः । अन्तरिक्षे । १।३०।३ मध्ये दृश्यमाने आकर्षणसामर्थ्ये । बहु-धा । विभाषा बहोर्धाऽविप्रकृष्टकाले । पा० ५ । ४ । २० । इति बहु+धा । बहुप्रकारेण, अविप्रकृष्टकाले । भवन्ति । वर्तन्ते । अन्यद् व्याख्यातम् म० १ ॥

शिवेन॑ मा॒ चक्षु॑षा पश्यतापः शि॒वया॑ त॒न्वोप॑ स्पृशत॒ त्वचं॑ मे। घृ॒त॒श्चुतः॒ शुच॑यो॒ याः पा॑व॒कास्ता न॑ आ॒पः शं स्यो॒ना भ॑वन्तु ॥ ४ ॥

शि॒वेन॑ । मा॒ । चक्षु॑षा । प॒श्य॒त॒ । आ॒पः॒ । शि॒वया॑ । त॒न्वा॑ । उप॑ । स्पृ॒श॒त॒ । त्वच॑म् । मे॒ । घृ॒त॒-श्चुतः॑ । शुच॑यः । याः । पा॒व॒काः । ताः । नः॒ । आप॑ः । शम् । स्यो॒नाः । भ॒व॒न्तु॒ ॥४॥

भाषार्थ—(आपः) हे तन्मात्राओ! (शिवेन) सुखप्रद (चक्षुषा) नेत्र से (मा) मुझ को (पश्यत) तुम देखो, (शिवया) अपने सुखप्रद (तन्वा) रूपसे (मे) मेरे (त्वचम्) शरीर को (उप स्पृशत) तुम स्पर्श करो। (याः) जो (आपः) तन्मात्रायें (घृतश्चुतः) अमृत बरसाने वाली, (शुचयः) निर्मल स्वभाव और (पावकाः) शुद्धि जताने वाली हैं, (ताः) वह [तन्मात्रायें] (नः) हमारे लिये (शम्) शुभ करने हारी और (स्योनाः) सुख देने वाली (भवन्तु) होवें ॥ ४ ॥

४—शिवेन । सर्वनिघृष्वरिष्व० । उ० १ । १५३ । इति शीङ् शयने यद्वा, शो तनूकरणे-वन् । शेरते विद्यन्ते शुभगुणा यत्र, वा श्यति अशुभानीति । सुखकरेण । मा । माम् । चक्षुषा । चक्षेः शिच्च । उ० २ । ११९ । इति चक्ष कथने दर्शने च-उसि । स च शित् । शित्वात् ख्याञादेशाभावः । लोचनेन, नयनेन, । पश्यत । अवलोकयत । आपः । म० १ । हे सूक्ष्मतन्मात्राः । शिवया । कल्याण्या, इष्टप्राप्तिहेतुभूतया । तन्वा । १ । १ । १ । रूपेण । उप+स्पृशत । संस्पृशत । त्वचम् । १ । २४ । २ । शरीरम् । घृत-श्चुतः । घृ दीप्तौ सेके च-क्त । घृतं सारः,अमृतम् । श्चुतिर् क्षरणे क्विप् । अमृतस्रा । विरयः अन्यद् व्याख्यातम् म० १ ॥

भावार्थ—(आपः) तन्मात्रायें मुझे नेत्र से देखें, अर्थात् पूर्ण ज्ञान हमें प्राप्त हो और उस से हमारे शरीर और आत्मा स्वस्थ रहें। अथवा, (आपः) शब्द से तन्मात्राओं के ज्ञाता और वशयिता परमेश्वर वा विद्वान् पुरुष का ग्रहण है। जो मनुष्य सृष्टि के विज्ञान से शरीर का स्वास्थ्य और आत्मा की उन्नति करके उपकारी होते हैं उन के लिये परमेश्वर की कृपा से सदा अमृत अर्थात् स्थिर सुख बरसता है ॥ ४ ॥

सूक्तम् ३४ ॥

१—५ ॥ वीरुद् (लता) देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

विद्याप्राप्त्युपदेशः—विद्या की प्राप्ति का उपदेश ॥

इयं वीरुन्मधुजाता मधुना त्वा खनामसि ।
मधोरधि प्रजातासि सा नो मधुमतस्कृधि ॥ १ ॥

इयम् । वीरुत् । मधु-जाता । मधुना । त्वा । खनामसि ।
मधोः । अधि । प्र-जाता । असि । सा । नः । मधु-मतः । कृधि ॥१॥

भाषार्थ—(इयम्) यह तू (वीरुत्) बढ़ती हुई [विद्या] (मधुजाता) ज्ञान से उत्पन्न हुई है, (मधुना) ज्ञान के साथ (त्वा) तुझ को (खनामसि) हम खोदते हैं। (मधोः अधि) विद्या से (प्रजाता असि) तू जन्मी है (सा)

१—इयम् । पुरोवर्तिनी त्वम् । वीरुत् । १ । ३२ । १ । विरोहणशीला विस्तृता लतारूपा विद्या । मधु-जाता । १ । ४ । १ । मन ज्ञाने-उ, धश्चान्तादेशः । जनी-क्त । मधुनो ज्ञानात् क्षौद्रात् वा यथा उत्पन्ना । मधुना । १ । ४ । १ । ज्ञानेन, क्षौद्ररसेन यथा वा । त्वा । त्वाम् वीरुधम् । खनामसि । खनु अवदारणे-लट्, मस इत्वम् । खनामः, अवदारयामः अन्वेषणेन प्राप्नुमः । मधोः । पुंलिंगे। वसन्ततुंसकाशात् । स्त्रियाम् । विद्यायाः सकाशात् । अधि । पञ्चम्यर्थानुवादी । प्र-जाता । प्रादुर्भूता । असि । वर्त्तसे । सा । सा त्वम् । नः । अस्मान् । मधु-मतः । तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् ।

सो तू (नः) हमको (मधुमतः) उत्तम विद्या वाले (कृधि) कर ॥ १ ॥

भावार्थ—मधु शब्द [मन ज्ञानना-उ, न=ध] का अर्थ ज्ञान है । धात्वर्थ के अनुसार यह आशय है कि शिक्षा के ग्रहण, अभ्यास, अन्वेषण और परीक्षण से मनुष्य को उत्तम सुखदायक विद्या मिलती है ॥ १ ॥

दूसरा अर्थ ॥

(इयम् वीरुत्) यह तू फैलती हुई बेल (मधुजाता) मधु (शहद्) से उत्पन्न हुई है (मधुना) मधु के साथ (त्वा) तुझ को (खनामसि) हम खोदते हैं । (मधोः अधि) वसन्त ऋतु से (प्रजाता असि) तू जन्मी है , (सा) सो तू (नः) हमको (मधुमतः) मधु रस वाले (कृधि) कर ॥ १ ॥

भावार्थ—मधु शब्द उसी धातु [मन ज्ञानना] से सिद्ध होकर [शहद्] के रस का वाचक है । इस अर्थ में विद्या को मधुलता अर्थात् शहद् की बेल वा प्रेमलता माना है । (मधु) शहद् वसन्त ऋतु में अनेक पुष्पों के रस से मधुमक्षिकाओं द्वारा मिलता है , इसी प्रकार (मधुना) प्रेम-रस के साथ (खोदने) अर्थात् अन्वेषण और परीक्षण से विद्वान् लोग अनेक विद्वानों से विद्यारूप मधु को पाकर (मधु) आनन्द रस का भोग करते हैं ॥ १ ॥

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम् ।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ २ ॥

जिह्वायाः । अग्रे । मधु । मे । जिह्वा-मूले । मधूलकम् । मम । इत् । अह । क्रतौ । असः । मम । चित्तम् । उप-आयसि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(मे) मेरी (जिह्वायाः) रस जीतने वाली, जिह्वा के (अग्रे) सिरे पर (मधु) ज्ञान [वा मधु का रस] होवे और (जिह्वामूले) जिह्वा की

पा० ५ । २ । ९४ । इति प्रशंसायां मतुप् । प्रशस्तज्ञानयुक्तान् , क्षौद्ररसोपेतान् वा यथा । कृधि । कुरु ॥

२—जिह्वायाः । १ । १० । ३ । जयति रसमनया । रसनायाः । अग्रे ।

मूल में (मधूलकम्) ज्ञान का लाभ [वा मधु का स्वादु] होवे । (मम) मेरे (क्रतौ) कर्म वा बुद्धि में (इत्) ही (अह) अवश्य (असः) तू रह, (मम चित्तम्) मेरे चित्त में (उपायसि) तू पहुंच करती है ॥ २ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य विद्या को रटन, मनन, और परीक्षण से प्रेम पूर्वक प्राप्त करते हैं, तब विद्या उन के हृदय में घर करके सुख का वरदान देती है ॥२॥

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम् ।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः ॥ ३ ॥

मधु-मत् । मे । नि-क्रमणम् । मधु-मत् । मे । परा-अयनम् ।
वाचा । वदामि । मधु-मत् । भूयासम् । मधु-संदृशः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(मे) मेरा (निक्रमणम्) पास आना (मधुमत्) बहुत ज्ञान वाला वा रस में भरा हुआ, और (मे) मेरा (परायणम्) बाहिर जाना (मधुमत्)

ऋज्रेन्द्राग्रवज्रविप्र० । उ० २ । २८ । इति अगि गतौ-रन् । उपरिभागे । मधु । म० १ । ज्ञानं क्षौद्ररसो वा । जिह्वा-मूले । मूशक्यविभ्यः क्लः । उ० ४ । १०८ । इति मूङ् बन्धे-क्ल । मवते बध्नाति वृक्षादिकं मूलम्, जिह्वाया रसनाया मूलभागे । मधूलकम् । मधु+उर गतौ-क, रस्य लत्वम्, स्वार्थे कन् । यद्वा मधु+लक स्वादे, प्राप्तौ च-अच्, दीर्घत्वम् । मधुनो ज्ञानस्य प्राप्तिः । मधुनः क्षौद्रस्य स्वादः । मम । मदीये । इत् । एव । अह । अवश्यम् । क्रतौ । कृञः कतुः । उ० १ । ७६ । इति कृञ्-कतु । क्रतुः, कर्म-निघ० २ । १ । प्रज्ञा-निघ० ३ । ९ । कर्मणि बुद्धौ वा । असः । १ । १६ । ४ ॥ त्वं भूयाः । चित्तम् । चिती ज्ञाने-क्त । अन्तः करणम् । उप-आयसि । उप+आङ्+अयङ् गतौ-लट् । उपागच्छसि, आदरेण सर्वतः प्राप्नोषि ॥

३—मधु-मत् । म० १ । अतिविज्ञानयुक्तम् । मधुरसोपेतम् । नि-क्रमणम् । नि+क्रमु गतौ-ल्युट् । निकटगमनम्, आगमनम् । परा-अयनम् ।

बहुत ज्ञान वाला वा रस में भरा हुआ होवे। (वाचा) वाणी से मैं (मधुमत्) बहुत ज्ञान वाला वा रसयुक्त (वदामि) बोलूं और मैं (मधुसन्दृशः) ज्ञान रूप वाला वा मधुर रूप वाला (भूयासम्) रहूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य घर, सभा, राजद्वार, देश, परदेश आदि में आने, जाने, निरीक्षण, परीक्षण, अभ्यास आदि समस्त चेष्टाओं और वाणी से बोलने अर्थात् शुभ गुणों के ग्रहण और उपदेश करने में (मधुमान्) ज्ञान वान् वा रस से भरे अर्थात् प्रेम में मग्न होते हैं, वही महात्मा (मधुसन्दृश) रसीले रूप वाले अर्थात् संसार भर में शुभ कर्मी होकर उपकार करते हैं ॥ ३ ॥

मधोरस्मि मधुतरो मदुघान्मधुमत्तरः ।
मामित् किल त्वं वनाः शाखां मधुमतीमिव ॥ ४ ॥

मधोः । अस्मि । मधु-तरः । मदुघात् । मधुमत्-तरः ।
माम् । इत् । किल । त्वम् । वनाः । शाखाम् । मधुमतीम्-इव ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(मधोः) मधुर रस से मैं (मधुतरः) अधिक मधुर (अस्मि) होऊं, (मदुघात्) लड्डु [वा मुलहटी ओषधि] से भी (मधुमत्तरः) अधिक मधुर रस वाला होऊं। (त्वम्) तू (माम् इत्) मुझ से ही (किल) निश्चय

परा+अय गतौ-ल्युट्। दूरगमनम् प्रस्थानम्। वाचा । १ । १ । १ । वाण्या । वदामि । वद वाचि-लिङर्थे लट् । कथ्यासम् उच्यासम्। भूयासम् । भू सत्तायाम्-आशिषि लिङ्। अहं स्याम्। मधु-सन्दृशः । इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः। पा० ३ । १ ।१३५। इति मधु+सम्+दृशिर् प्रेक्षणे=चाक्षुषज्ञाने-क। ज्ञानरसरूपः, मधुरदर्शनः ॥

४—मधोः । म० १। मधुररसात्, क्षौद्ररसात्। अस्मि । अहं भवानि। मधु-तरः । द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ । पा०५। ३ । ५७ । इति मधु+तरप्। अधिकमाधुर्योपेतः। मदुघात् । मोदकात्। मुद हर्षे-ण्वुल्। छान्दसं रूपम् मिष्टखाद्यविशेषात्। यद्वा [मधुकात्] मधु+कै-क। मधु मधुरं कायति

करके (वनाः) प्रेमकर, (इव) जैसे (मधुमतीम्) मधुर रसवाली (शाखाम्) शाखा से [अनुराग करते हैं] ॥ ४ ॥

भावार्थ—विद्या का रस सांसारिक स्वादिष्ट मिष्टान्न आदि रोचक पदार्थों से बहुत ही रसीला अर्थात् अधिक लाभदायक और उपकारी होता है। जैसे जैसे ब्रह्मचारी यत्न पूर्वक विद्या की लालसा करता है वैसे ही वैसे विद्या देवी भी उस से अनुराग करती है ॥ ४ ॥

मनु महाराज ने कहा है-अ० ४ श्लोक २० ॥

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥१॥

जैसे जैसे ही पुरुष शास्त्र को पढ़ता जाता है, वैसे ही वैसे वह अधिक विद्वान् होता जाता है, और विज्ञान में उसकी रुचि होती है ॥

परि त्वा परितत्नुनेक्षुणागामविद्विषे ।
यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥ ५ ॥

परि । त्वा । परि-तत्नुना । इक्षुणा । अगाम् । अवि-द्विषे । यथा । माम् । कामिनी । असः । यथा । मत् । न । अप-गाः । असः ॥५॥

शब्दयति विज्ञापयतीति मधुकम्। यष्टिमधुकायाः, ओषधिविशेषात्। सायण-भाष्ये तु (मदुघात्)=मधुदुघात्, मधु+दुह प्रपूरणे-कप्, घत्वं च, मधु-शब्दे धुलोपश्छान्दसः, मधुस्राविणः पदार्थविशेषात्-इति वर्तते। मधुमत्-तरः। मधु+मतुप्+तरप् पूर्ववत्। पा०५।३।५७। अधिकतरमधुमान्, उपकारि-तरः। माम्। विद्यार्थिनं ब्रह्मचारिणम्। किल। प्रसिद्धौ, निश्चयेन। त्वम्। विद्ये। वनाः। वन संभक्तौ—लेट्। लेटोऽडाटौ। पा० ३। ४। ९४। इति आडागमः। त्वं संभजेः, सेवस्व, कामयेथाः। शाखाम्। शाख व्याप्तौ-अच्, टाप्। वृक्षाङ्गविशेषम्। मधुमतीम्। म० १। मधु+मतुप्—ङीप्। मधुररसयुक्ताम् ॥

भाषार्थ—(परितत्नुना) बहुत फैली हुई (इक्षुणा) लालसा के साथ [अथवा, ऊख जैसी मधुरता के साथ] (अविद्विषे) वैर छोड़ने के लिये (त्वा) तुझ को (परि) सब ओर से (अगाम्) मैंने पाया है। (यथा) जिस से तू (माम् कामिनी) मेरी कामना करने वाली (असः) होवे, और (यथा) जिस से तू (मत्) मुझ से (अपगाः) बिछुड़ने वाली (न) न (असः) होवे॥ ५ ॥

भावार्थ—जब ब्रह्मचारी पूर्ण अभिलाषा से विद्या के लिये प्रयत्न करता है तो कठिन से कठिन भी विद्या उस को अवश्य मिलती और अभीष्ट आनन्द देती है॥ ५ ॥

इस मन्त्र का दूसरा आधा २ । ३० । १ और ६ । ८ । १—३ में भी है ॥

सूक्तम् ३५ ॥

१—४ ॥ हिरण्यं देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सुवर्णादिधनलाभोपदेशः—सुवर्ण आदि धन प्राप्ति के लिये उपदेश ॥

यदाबध्नन् दाक्षायणा हिरण्यं शतानीकाय सुमनस्यमानाः । तत् ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ १ ॥

५—परि । सर्वतो भावेन । त्वा । त्वाम् मधुलतां विद्याम् । परि-तत्नुना । दाभाभ्यां नुः । उ० ३ । ३२ । इति बाहुलकात् । तनु विस्तारे-नु प्रत्ययः । सर्वत्रव्याप्तेन । इक्षुणा । इषेः क्सुः । उ०३ । १५७ । इति इष इच्छायाम्-क्सु । अभिलाषेण, यद्वा । गुडतृणेन प्रेमरूपेण । अगाम् । इण गतौ-लुङ् । प्राप्तवानस्मि । अवि-द्विषे । न+वि+द्विष वैरे-भावे क्विप् । वैर-त्यागार्थम् । यथा । येन प्रकारेण । माम् । ब्रह्मचारिणम् । कामिनी । अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । इति काम-इनि । ङीप् । अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः । पा० २ । ३ । ७० । इति द्वितीया । माम् कामयमाना । असः । १।१६। ४ । त्वम् भवेः, भूयाः । मत् । मत्तः । न । निषेधे । अप-गाः । आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च । पा० ३ । २ । ७४ । इति अप+गाङ् गतौ-विच् । अपयानशीला, प्रस्थानशीला, वियोगिनी ॥

यत् । आ-अबध्नन् । दाक्षायणाः (= दक्ष-अयनाः) । हिरण्यम् । शत-अनीकाय । सु-मनस्यमानाः । तत् । ते । बध्नामि । आयुषे । वर्चसे । बलाय । दीर्घायु-त्वाय । शत-शारदाय ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यत्) जिस (हिरण्यम्) कामनायोग्य विज्ञान वा सुवर्णादि को (दाक्षायणाः) बल की गति रखने वाले, परम उत्साही (सुमनस्यमानाः) शुभचिन्तकों ने (शतानीकाय) सौ सेनाओं के लिये (अबध्नन्) बांधा है। (तत्) उस को (आयुषे) लाभ के लिये, (वर्चसे) यश के लिये, (बलाय) बल के लिये और (शतशारदाय) सौ शरद् ऋतुओं वाले (दीर्घायुत्वाय) चिरकाल जीवन के लिये (ते) तेरे (बध्नामि) मैं बांधता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार कामना योग्य उत्तम विज्ञान और धन आदि से

१—यत् । हिरण्यम् । आ । समन्तात् । अबध्नन् । बन्ध बन्धने-लङ् । अधारयन्, अस्थापयन् । दाक्षायणाः । दक्ष-अयनाः । दक्ष वृद्धौ-अच् । दक्षते प्रवृद्धये समर्थो भवतीति । दक्षः, बलम् । निघ० २ । ६ । अय गतौ-ल्युट् । अयनं गतिः । पूर्वपददीर्घत्वं छान्दसम् । दक्षस्य बलस्य अयनं गतिर्येषां ते दाक्षायणाः । परमोत्साहिनः शूरवीरा विद्वांसो वा । हिरण्यम् । १ । ६ । २ । कमनीयं विज्ञानं । सुवर्णादिकं धनम् । शत-अनीकाय । दिक्संख्ये संज्ञायाम् । पा०२।१। ५० । इति तत्पुरुषः । शतसेनाप्राप्तये । सु-मनस्यमानाः । कर्तुः क्यङ् सलोपश्च । पा० ३ । १ । ११ । इति मनस्-क्यङ्, विकल्पत्वादत्र सकारभावः, ततो लटः शानच् । शोभनं मनः कुर्वन्ते सुमनस्यन्ते सुमनायन्ते वा ते सुमनस्यमानाः, शोभनं ध्यायन्तः शुभचिन्तकाः सज्जनाः । बध्नामि । बन्ध बन्धने-क्र्यादि । धारयामि । आयुषे । १ । ३० । ३ । ईयते प्राप्यते यत्तद् आयुः । आयाय, लाभाय । वर्चसे । १ । ६ । ४ । तेजसे, यशसे । बलाय । १ । १ । १ । पराक्रमाय । दीर्घायु-त्वाय । दॄ विदारणे-घञ् । छन्दसीणः । उ० १ । २ । इति इण् गतौ-उण्-आयुः । भावे त्वप्रत्ययः । लम्बमानजीवनाय, चिरकालजीवनाय । शतं-शारदाय । सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण् । पा० ४ । ३ । १६ । इति शरद्-अण् । शरदृतोः संबन्धी कालः संवत्सरः । शतसंवत्सरयुक्ताय ॥

दूरदर्शी, शुभचिन्तक, शूर वीर विद्वान् लोग बहुत सेना लेकर रक्षा करते हैं, उसी प्रकार सब मनुष्य विज्ञान और धन की प्राप्ति से संसार में कीर्त्ति और सामर्थ्य बढ़ावें और अपना जीवन सुफल करें ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है । अ० ३४ म० ५२ ॥

नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते देवानामोजः प्रथमजं ह्ये३तत् । यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं स जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः ॥ २ ॥

न । एनम् । रक्षांसि । न । पिशाचाः । सहन्ते । देवानाम् । ओजः ॥ प्रथम-जम् । हि । एतत् । यः । बिभर्ति । दाक्षायणम् (= दक्ष-अयनम्) । हिरण्यम् । सः । जीवेषु । कृणुते । दीर्घम् । आयुः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(न) न तो (रक्षांसि) हिंसा करनेहारे राक्षस और (न) न (पिशाचाः) मांसाहारी पिशाच (एनम्) इस पुरुष को (सहन्ते) दबा सकते हैं, (हि) क्योंकि (एतत्) यह [विज्ञान वा सुवर्ण] (देवानाम्) विद्वानों का (प्रथमजम्) प्रथमउत्पन्न (ओजः) सामर्थ्य है । (यः) जो पुरुष (दाक्षायणम्)

२—**न** । निषेधे । **एनम्** । हिरण्यधारिणं पुरुषम् । **रक्षांसि** । १ । २१ । ३ । राक्षसाः, नष्टबुद्धयः स्वार्थिनः । **पिशाचाः** । १ । १६ । ३ । मांसभक्षिणः पिशिताशिनो महादुःखदायिनः । **सहन्ते** । अभिभवन्ति, बाधन्ते । **देवानाम्** । विदुषाम् । **ओजः** । १ । १२ । १ । पराक्रमः । **प्रथम-जम्** । प्रथेरमच् । उ० ५ । ६८ । इति प्रथ ख्यातौ-अमच्+जनी-ड । प्रथमतो मातापितृगुरुकारिताभ्यासत उत्पन्नम् । **हि** । खलु, यस्मात् कारणात् । **एतत्** । हिरण्यम् । **यः** । पुरुषः । **बिभर्त्ति** । भृञ् भरणधारणपोषणेषु-जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः । दधाति । **दाक्षायणम्** । म० १ । बलस्य गतियुक्तम् , परमोत्साहवर्धकम् ।

बल की गति बढ़ाने वाले (हिरण्यम्) कमनीय तेजः स्वरूप विज्ञान वा सुवर्ण को (विभर्त्ति) धारण करता है. (सः) वह (जीवेषु) सब जीवों में (आयुः) अपनी आयु को (दीर्घम्) दीर्घ (कृणुते) करता है ॥ २ ॥

भावार्थ—जो पुरुष (प्रथमजम्) प्रथम अवस्था में गुणी माता, पिता और आचार्य से ब्रह्मचर्य सेवन करके शिक्षा पाते हैं, वह उत्साही जन सब विघ्नों को हटा कर दुष्ट हिंसकों के फंदे में नहीं फंसते हैं, और वही सत्कर्मी पुरुष विज्ञान और सुवर्ण आदि धन को प्राप्त करके संसार में यश पाते हैं, इसी का नाम दीर्घ आयु करना है ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है, अ० ३४ म० ५१ ॥

अपां तेजो ज्योतिरोजो बलं च वनस्पतीनामुत वीर्याणि । इन्द्र इवेन्द्रियाण्यधि धारयामो अस्मिन् तद् दक्षमाणो बिभरद्धिरण्यम् ॥ ३ ॥

अपाम् । तेजः । ज्योतिः । ओजः । बलम् । च । वनस्पतीनाम् । उत । वीर्याणि । इन्द्रेऽइव । इन्द्रियाणि । अधि । धारयामः । अस्मिन् । तत् । दक्षमाणः । बिभरत् । हिरण्यम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अपाम्) प्राणों वा प्रजाओं के (तेजः) तेज, (ज्योतिः) कान्ति, (ओजः) पराक्रम (च) और (बलम्) बल को (उत) और भी

हिरण्यम् । म० १ । कमनीयं विज्ञानं सुवर्णादिकं वा । जीवेषु । इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । इति जीव प्राणने-क । प्राणिषु । कृणुते । कृञ् हिंसाकरणयोः, स्वादिः । करोति । दीर्घम् । म० १ । दॄ विदारणे-घञ् । लम्बमानम् । आयुः । म० १ । इण्-उसि । जीवनम् ॥

३—अपाम् । आप्नोतेर्ह्रस्वश्च । उ० २ । ५८ । इति आप्लृ व्याप्तौ-क्विप् । आप्नुवन्ति शरीरमिति आपः । प्राणानाम् । आप्तानां प्रजानां वा । यथा श्रीमद्दयानन्दभाष्ये । आपः =प्राणा जलानि वा । यजुः ४ । ७ । पुनः । आप्ताः प्रजाः ।

(वनस्पतीनाम्) सेवनीय गुणों के रक्षक विद्वानों की (वीर्याणि) शक्तियों को (अस्मिन् अधि) इस [पुरुष] में (धारयामः) हम धारण करते हैं , (इव) जैसे (इन्द्रे) बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष में (इन्द्रियाणि) इन्द्र के चिन्ह , [बड़े बड़े ऐश्वर्य] होते हैं । [इस लिये] (दक्षमाणः) वृद्धि करता हुआ यह पुरुष (तत्) उस (हिरण्यम्) कमनीय विज्ञान वा सुवर्ण आदि को (बिभ्रत्) धारण करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वानों के सत्संग से महा प्रतापी , विक्रमी , तेजस्वी , गुणी पुरुष वृद्धि करके विज्ञान और धन संचय करे और सामर्थ्य बढ़ावे ॥ ३ ॥

समा॑नां मा॒साामृ॒तुभि॑ष्ट्वा व॒यं सं॑वत्स॒रस्य॒ पय॑सा पिपर्मि । इ॒न्द्रा॒ग्नी विश्वे॑ दे॒वास्तेऽनु॑ मन्यन्ता॒मह॑णीयमानाः ॥ ४ ॥

समा॑नाम् । मा॒साम् । ऋ॒तु-भिः॑ । त्वा॒ । व॒यम् । स॒म्-व॒त्स॒रस्य॑ । पय॑सा । पि॒प॒र्मि॒ । इ॒न्द्रा॒ग्नी इति॑ । विश्वे॑ । दे॒वाः । ते । अनु॑ । म॒न्य॒न्ता॒म् । अह॑णीयमानाः ॥ ४ ॥

य० ६ । २७ । **तेजः** । तिज निशाने-असुन् । दीप्तिः , कान्तिः । रेतः , सारः । **ज्योतिः** । १ । ६ । १ । प्रकाशः , कान्तिः । **ओजः** । म० २ । पराक्रमः । **बलम्** । म०१ सामर्थ्यम् । शौर्य्यम् । **वनस्पतीनाम्** । १ । १२ । ३ । वन+पतिः , सुट् च । वृक्षाणाम् । अथवा । सेवनीयगुणपालकानां सज्जनानां पालकानाम् । यथा श्रीमद्दयानन्दभाष्ये यजु० २७ । २१ । वनस्पते=वनस्य संभजनीयस्य शास्त्रस्य पालक । **वीर्याणि** । १ । ७ । ५ । सामर्थ्यानि । रेतांसि । **इन्द्रे** । १ । २ । ३ । परमैश्वर्यवति पुरुषे । **इन्द्रियाणि** । इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा । पा० ५ । २ । ६३ । इन्द्रस्य लिङ्गानि चिन्हानि । परमैश्वर्याणि, धनादीनि । **अधि** । उपरि । **धारयामः** । स्थापयामः । **अस्मिन्** । पुरुषे । **तत्** । तस्मात् कारणात् । **दक्षमाणः** । दक्ष वृद्धौ-शानच् । वर्धमानः पुरुषः । **बिभरत्** । डुभृञ् धारणपोषणयोः-लेट् । धारयेत्, बिभर्तु । **हिरण्यम्** । म० १ । कमनीयं धनम् ॥

भाषार्थ—(वयम्) हम लोग (त्वा) तुझ को [आत्मा को] (समानाम्) अनुकूल (मास्याम्) महीनों की (ऋतुभिः) ऋतुओं से और (संवत्सरस्य) वर्ष के (पयसा) दुग्ध वा रस से (पिपर्मि = पिपर्मः) पूर्ण करते हैं। (इन्द्राग्नी) वायु और अग्नि [वायु और अग्नि के समान गुण वाले] (ते) वह (विश्वे देवाः) सब दिव्य गुण युक्त पुरुष (अहृणीयमानाः) संकोच न करते हुये (अनु मन्यन्ताम्) [हम पर] अनुकूल रहें ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य महीनों, ऋतुओं और वर्षों का अनुकूल विभाग करते हैं, वह वर्ष भर की उपज, अन्न, दूध, फल पुष्प आदि से पुष्ट रहते हैं,

---

४—समानाम् । षम वैक्लव्ये-पचाद्यच् । अविषमानाम् । पूर्णानाम् । साधूनाम्, अनुकूलानाम् । मासाम् । सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८६ । इति माङ् माने-असुन् । मासानाम् । ऋतु-भिः । अर्त्तेश्च तुः । उ० १ । ७२ । इति ऋ गतौ—तु, स च कित् । वसन्तादिकालविशेषैः । त्वा । त्वाम् पुरुषम् । सम्-वत्सरस्य । संपूर्वाच्चित् । उ० ३ । ७२ । इति सम् + वस निवासे—सरन्, सस्य तकारः। संवसन्ति ऋतवो यत्र । वर्षस्य, द्वादशमासात्मकस्य कालस्य । पयसा । पय गतौ वा पीङ् पाने—असुन् । दुग्धेन सारेण वा, धान्यफलादिना, इत्यर्थः । पिपर्मि । पॄ पालनपूरणयोः, जुहोत्यादिः । एकवचनं बहुवचने । वयं पिपर्मः पालयामः, पूरयामः । इन्द्राग्नी । वाय्वग्नी । यथा श्रीमद् दयानन्दभाष्ये, य० २१ । २० । इन्द्राग्नी = इन्द्रश्चाग्निश्च तौ वाय्वग्नी । तद्वद् गुणवन्तः । विश्वे । सर्वे । देवाः । दिव्यगुणाः पुरुषाः । अनु-मन्यन्ताम् । अनु + मन बोधे-लोट् । अनुजानन्तु, स्वीकुर्वन्तु, अनुकूलं कुर्वन्तु । अहृणीय-मानाः । कण्ड्वादिभ्यो यक् । पा० ३ । १ । २७ । इति हृणीङ् रोषणे लज्जायां वैमनस्ये च—यक् । ङित्त्वाद् आत्मनेपदम् । ततः शानच् । हृणीयते = क्रुध्यति, निघ० २ । १२ । अक्रुध्यन्तः, असङ्कुचन्तः ॥

*

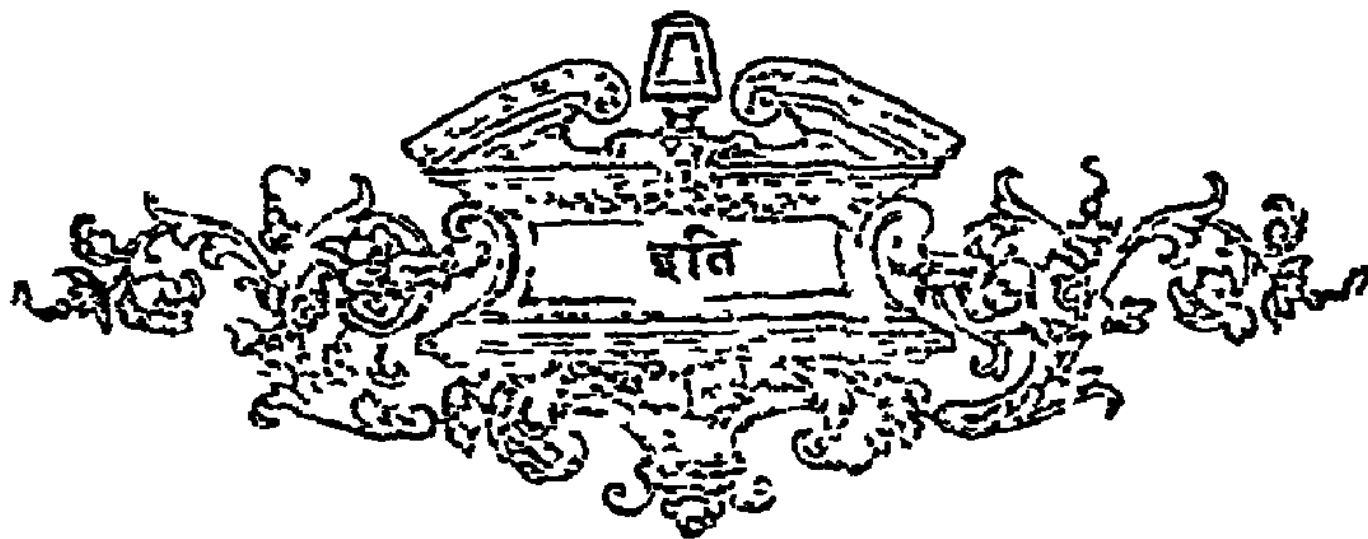
और वायु के समान वेग वाले, और अग्नि के समान तेजस्वी विद्वान् महात्मा उस पुरुषार्थी मनुष्य के सदा शुभचिन्तक होते हैं ॥ ४ ॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

इति प्रथमं काण्डम् ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिमश्रीसयाजीरावगायकवाडा-
धिष्ठितबडोदेपुरीगतश्रावणमासदक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेद-
भाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्रीपण्डितक्षेमकरणदासत्रिवेदिना
कृते अथर्ववेदभाष्ये प्रथमं काण्डं
समाप्तम् ॥

इदं काण्डं प्रयागनगरे श्रावणमासे रक्षाबन्धनतिथौ १९६९ तमे
विक्रमीये संवत्सरे धीरवीरचिरप्रतापिमहायशस्वि-
श्रीराजराजेश्वर जार्जपञ्चम-
महोदयस्य सुसाम्राज्ये
सुसमाप्तिमगात् ॥



हमारे अन्य वैदिक ग्रन्थ ।



४-हवनमंत्राः—अर्थात् चारों वेदों के संगृहीत मन्त्र, ईश्वरस्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण और हवन मन्त्र, विधि आदि, सरल भाषानुवाद, टिप्पणी, शब्द संग्रह आदि सहित बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ ५६ मूल्य ।)॥

— संक्षिप्त समालोचनायें —

सद्धर्म प्रचारक, गुरुकुल काँगड़ी, १७ फाल्गुण सं० १९६८...आजकल लोग हवनमन्त्र उच्चारण करते हैं, परन्तु प्रायः मन्त्रों के अर्थ नहीं जानते । उन्हें यह पुस्तक अवश्य मंगवा कर पढ़नी चाहिये ।

अभ्युदय, प्रयाग ता० २८ अप्रेल १९१२...इस में ईश्वर स्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्ति करण और हवन मंत्र वेद से लेकर सरल हिन्दी भाषा में अनुवादित किये हैं ।...पुस्तक प्रत्येक आर्य पुरुष के रखने योग्य है ।

वेद प्रकाश, मेरठ, मई १९१२ ।...इन सब मन्त्रों का अर्थ भाषा में अब तक नहीं था, इस कमी को इस पुस्तक ने पूर्ण कर दिया है ।

महाशय खुशीराम जी गवर्नमेन्ट पेन्शनर, देहरादून, २५ फाल्गुण ६८ ।... आप ने हवन मन्त्रों का भाषानुवाद करके बड़ा उपकार किया है । आप मेरा नाम अथर्ववेद भाष्य के ग्राहकों में लिख लेवें, जब प्रकाशित हो रुद्राध्याय भाषा अङ्गरेज़ी अनुवाद सहित वी. पी. द्वारा भेज देवें

५—रुद्राध्याय—सुप्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः) ब्रह्म निरूपक अर्थ संस्कृत, भाषा और अङ्गरेज़ी में शिक्षा, शब्दसाधन आदि सहित । बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १४८ मूल्य ।=)

६—तथा—मूलमात्र, बढ़िया रायल अठपेजी पृ० १४ मूल्य)॥

क्षेमकरणदास त्रिवेदी

५२ लूकरगंज, प्रयाग

